डॉ॰ ललित शुक्ल



# उपन्यासकार भगवती प्रसाद वाजपेयी

# शिल्प और चिन्तन



नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली-७

# उपन्यासकार भगवतीप्रसाद वाजपेयी

## शिल्प और चिन्तन



लेखक
डॉ० ललित शुक्ल

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली–७

# अपनी बात

मेरे हृदय में जाने क्यों एक धारणा यह बन गयी है, कि जब किसी साहित्य-कार से मिलिए तो उसकी कृतियां पढ़कर। न सारी सम्भव हों तो कुछ ही सही। बात सन् १९५८ ई० की है। महीना अक्तूबर का था। तब वाजपेयी जी कानपुर के जवाहरनगर मुहल्ले में रहते थे। एक दिन गया तो मैं मिलने की इच्छा से, किन्तु अचानक मिलते ही वाजपेयी जी मुझसे पूछ बैठे—आप गद्य पसंद करते हैं या पद्य ? और फिर आप उपन्यास पसन्द करते हैं अथवा कहानी ? मैंने उस समय इन प्रश्नों के क्या उत्तर दिये, यह तो स्मरण नहीं, किन्तु इतना अवश्य याद है कि मैंने बड़े स्वाभिमान से कहा था, कि 'सूखी लकड़ी' मैंने पढ़ी है। मुझे अच्छी भी लगती है। यह बात मैंने ऐसे ढंग से कही थी, जैसे बहुत बड़ा तीर मार लिया हो। अब तो यही सोचता हूँ, कि वाजपेयी जी ने सोचा होगा कि पढ़ा भी तो 'सूखी लकड़ी'। हाँ, हँसी मुझे इस बात पर आती है, कि उनके प्रश्नों के उत्तर में जो कुछ मैंने कहा था, वह उनका उत्तर नहीं था और चाहे जो रहा हो। मुझे अपनी कमी खटकी। सोचा कि यदि दो-चार कृतियां भी पढ़कर गया होता तो वार्ता का अवसर अवश्य मिलता। इसके बाद,

समय बीतता रहा। वाजपेयी जी लिखते रहे। और मैं उनके साहित्य को पढ़ने के अतिरिक्त अपने सारे कार्य करता रहा। जब हाथ-पांव मारने पर भी मैं किसी भी यशस्वी साहित्यकार की रचना नहीं पढ़ पाता हूँ, तो अपनी असमर्थता पर खीझ उठता हूँ। मेरे एक साथी का कहना है, कि 'मैं तो समय काटने के लिए उपन्यास पढ़ता हूँ।' एक बार उन्होंने जब मुझसे यह मन्तव्य प्रकट किया, तो मैंने कहा, कि यह प्रक्रिया तो मुझसे संभव नहीं। इतना अवश्य कर सकता हूँ, कि समय से उपन्यास काटूं। संयोगवश एक दिन सहसा श्रद्धेय गुरुवर डॉ० विश्वनाथ गौड़ (अध्यक्ष हिन्दी विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर) ने पूछा, कि 'आपने वाजपेयी जी की कितनी कृतियां पढ़ी हैं ?' सोचा कि कह दूं 'सूखी लकड़ी'। कहते नहीं बना। अपने को एक बार पुनः कोसा और गौड़ जी से समय लेकर पुस्तकें जुटाईं। अनुमान था दस से अधिक क्या होंगी ! और यदि बहुत अधिक हुईं तो पन्द्रह होंगी। फिर धोखा खाया। कुल ४१ उपन्यास। जो सागर वाजपेयी जी ने ४० वर्षों में भरा और जिसका जलागम अब भी अविराम है, उसकी थाह साल, दो साल में पाना कितना कठिन है ? रामभरोसे हिम्मत बांधी और आगे बढ़े।

११ अक्तूबर, सन् १६६४ ई० को कानपुर की 'विमर्श' नाम्नी साहित्यिक संस्था ने वाजपेयी जी की वर्षगांठ मनाने का आयोजन किया। गुरुवर आचार्य पं० कृष्ण शंकर शुक्ल की अध्यक्षता में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर मैंने सोचा था, कि जाऊंगा और सुनूंगा, कि दुनिया वाजपेयी जी के सम्बन्ध में क्या कहती है ? सभी कुछ यथावत् हुआ; किन्तु मैं बहुत चाहने पर भी नहीं जा पाया। इस घटना से मेरे अध्ययन की गति और आगे बढ़ी। एक दिन साहस बटोरकर श्रीयुत् गौड़ जी से मैंने कह दिया कि पंडित जी, अब मैंने वाजपेयी जी की कृतियों को पढ़ लिया है। वे बोले, 'तो लिखकर दिखाओ, क्या पढ़ लिया' बस यही वाक्य इस पुस्तक की रचना का आधार है।

वाजपेयी जी की जितनी कृतियां (केवल उपन्यास) अभी तक प्रकाशित हुई हैं, उन्हीं के आधार पर कुछ कहने का प्रयास मैंने किया है। हिन्दी साहित्य में वाजपेयी जी के उपन्यासों की समीक्षा सम्यक् रूप से अभी तक प्रकाश में नहीं आयी है। आधिकारिक रूप से मैं यह तो नहीं कह सकता, कि इस विवेचन में सारी बातें आ गयी हैं, किन्तु इतना विश्वास अवश्य है कि इससे पाठकों को वाजपेयी जी के उपन्यासों की दिशा समझने में एक सहारा मिलेगा।

'अवतरण' के अन्तर्गत कृतियों का क्रम-विकास है। किस रचना में क्या है और उसके प्रकाशन का उद्देश्य क्या है ? इस बात पर संक्षेप में विचार किया गया है। कृतियों के परिचय में उनके महत्त्व का ध्यान रखा गया है, जिससे किसी कृति के साथ अन्याय न हो। वैसे उपन्यासों के रूप और आकार साहित्य की अन्य विधाओं से आगे हैं—बहुत आगे हैं। उनके हर अंग पर विस्तार से विचार करने का तात्पर्य है, कि एक उपन्यास के लिए पृथक् एक समीक्षा पुस्तक चाहिए, जो मेरा उद्देश्य नहीं था।

वस्तु, शिल्प, चरित्र आदि का विवेचन करने में कृतिकार के कथनों का सहारा लिया गया है। यथार्थ और आदर्श के साथ जीवन-दर्शन देना भी मैंने उचित समझा है, क्योंकि इससे लेखक के व्यक्तित्व का पता चलता है। और जिस लेखक का जीवन समय की शिला पर संघर्षण द्वारा मांजा गया हो उसके व्यक्तित्व का आकर्षण आग्रहपूर्वक अपनी व्याख्या करवा लेता है। यही बात वाजपेयी जी के पात्रों के सम्बंध में हुई। कुछ पात्रों का व्यक्तित्व ऐसा रहा है, कि मुझे रुकना पड़ा है और मैंने उनके व्यक्तित्व पर विशेष रूप से सोचने के लिए अपने कार्य की गति धीमी कर दी है। वाजपेयी जी की भाषा के लिए पृथक् अध्याय इसलिए देना पड़ा, क्योंकि उसका मार्ग उन्होंने स्वयं खोजा है और भाषा-सम्बंधी उनकी उपलब्धियां अनुपम हैं।

'तब और अब' में लेखक की रचना-शैली का क्रमिक विकास है। 'कहां-कहां वाजपेयी जी ने अपनी यात्रा में मोड़ लिए हैं ?' इस बात को देखते हुए लेखक के मार्ग की ऋजुता और बांकपन का भी मूल्यांकन हुआ है। वाजपेयी जी के उपन्यासों को पढ़कर जो धारणा मेरे मन में बनी, उसे ही मैंने इस पुस्तक में उतारा है। जब तक उनके उपन्यासों का अध्ययन और लेखन चलता रहा है, बड़े आनंद से समय बीता है। कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ है कि रात बीत गयी है, उपन्यास ने इसकी चिन्ता नहीं की। उसने अपने को पढ़वा लिया है। 'टूटते बंधन', 'सूनी राह' और 'चलते-चलते' को पढ़ते समय मेरी नहीं चली। उनका व्यक्तित्व प्रधान था। उन्होंने एक ही बैठक में अपने को पढ़वा लिया तब माने।

इधर उपन्यास साहित्य पर बड़ा काम हुआ है। सामाजिक अध्ययन, मनोवैज्ञानिक अध्ययन, शास्त्रीय अध्ययन, राजनैतिक अध्ययन और जाने क्या-क्या ! किसी विद्वान लेखक ने वाजपेयी जी का तीन पुस्तकें पढ़कर उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार माना है और किसी ने पाँच पुस्तकों का ज्ञान प्राप्त कर नाप में बताया है, कि वाजपेयी जी 'साढ़े बाईस' ही ठहरते हैं। ध्यान रहे कि सभी की तुला अपने-अपने ढग की रही है। इसीलिए अपने-अपने 'मन' की बातें कही गयी हैं। साहित्यिक नाप-तौल का अभ्यास न होने के कारण मैंने यह बताने का प्रयास किया है, कि वाजपेयी जी ने क्या लिखा है। और अपने समसामयिक उपन्यासों से वे किस प्रकार भिन्न हैं अथवा मेल में हैं ? हिन्दी साहित्य को उन्होंने जो कुछ दिया है उसकी क्या विशेषता है ?

इस पुस्तक के लेखन में जिन विद्वानों और लेखकों के विचारों से मुझे सहायता मिली है उनके प्रति सादर अभिवादन प्रकट करता हूँ और आभारी हूँ उन साथियों का जिन्होंने इसकी रचना में हाथ बंटाया है। श्री ईश्वरदत्त 'शील' ने वाजपेयी जी के उपन्यासों की सूची (कालक्रमानुसार) देकर मेरे कार्य को सरल बनाया है। प्रो० असितकुमार जी मुखोपाध्याय के सत्परामर्श मेरी लेखन-प्रक्रिया में सहायक रहे हैं। इन बधुओं को मैं हार्दिक धन्यवाद ही देना चाहूँगा; क्योंकि सोचता हूँ, कि कहीं आभार को औपचारिक मानकर ये मुझे कुछ कहने न लगें। यदि इस पुस्तक से पाठकों को कुछ भी संतोष मिला, तो मैं वाजपेयीजी के उपन्यासों का अध्ययन सार्थक समझूंगा। बस इतना ही।

—ललित शुक्ल

डी—१३०, दूसरी मंजिल,
न्यू राजेन्द्रनगर,
नयी दिल्ली—५

श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र की सेवा में सादर
जिनका साहित्य-सृजन
मुझे सदैव प्रेरणा
प्रदान करता
रहता है ।

# अनुक्रम

"एक युग था, जब हम मानते थे, कि युगीन समस्याओं का आकलन करने वाला साहित्य चिरस्थायी नहीं हो सकता। मेरी मान्यता है, कि युगीन समस्याओं का आकलन उपन्यास के आधारभूत पात्रों के जीवन व्यापारों तथा बाह्य प्रक्रियाओं के चित्रण में ही नहीं, चेतना की मौलिक परतों तक में भी सन्निहित रहता है। कोई कृतिकार उससे बच नहीं सकता। परन्तु तब यह देखना पड़ेगा, कि जीवन-वृत्तियों के शोध, अन्वेषण और अध्ययन से सम्बंधित पात्रों की आत्मान्वेषी वृत्ति, उद्दाम जिजीविषा, चरम उपलब्धि की दिशा में उसका पुरुषार्थ और संघर्ष कितना जीवन्त और महाप्राण है।"

—**भगवतीप्रसाद वाजपेयी**

१

# जीवन-प्रसंग

कानपुर जिले की डेरापुर तहसील के अन्तर्गत मंगलपुर नाम का एक गाँव है। यह स्थान रसूलाबाद से सिकन्दराबाद जाने वाली सड़क के किनारे स्थित है तथा उत्तर रेलवे के झींझक स्टेशन से चार मील दक्षिण पड़ता है। पूर्व माध्यमिक पाठशाला, मवेशीखाना तथा थाना आदि होने के कारण मंगलपुर गाँव तहसील में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जनसंख्या लगभग तीन हजार की होगी। बस्ती पंचमेली है। सभी प्रमुख जातियाँ इस गाँव में निवास करती हैं। हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी का जन्म ११ अक्तूबर, सन् १८९९ ई० को इसी मंगलपुर गाँव में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री शिवरत्न वाजपेयी था। अपने गाँव में उनका घराना अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त था। वे अपनी जवार के परम श्रद्धेय व्यक्ति थे।

छुटपन से ही वाजपेयी जी के जीवन में संघर्ष और उत्साह की भाव-भूमियाँ दिखाई पड़ती हैं। लगता है—अपने लक्ष्य पर चलते हुए वाजपेयी जी का व्यक्तित्व श्रम की आँच में तप कर सँवरता रहा और वे अपने अवितथ प्रयत्नों के साथ कर्त्तव्य-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते रहे। इस प्रसंग की एकाध घटनाएँ बड़ी रोचक हैं जिनसे उनकी प्रतिभा और सहज विकास की झाँकी देखी जा सकती है।

जब वाजपेयी जी चार वर्ष के थे तभी उनके मामा पं० जगन्नाथ मिश्र का स्वर्गवास हो गया। परिणामस्वरूप मामा का आश्रय छूट गया और वाजपेयी जी अपने पिताजी के साथ सम्बन्धियों के यहाँ आने-जाने लगे। इसी प्रसंग में एक बार इन्हें 'सहार' (इटावा) जाना पड़ा। वहाँ वाजपेयी जी के मामा के साढ़ू रहा करते थे, जिनका नाम था पं० सरदार मिश्र। उनके बड़े लड़के का नाम लल्लू था। उस समय उसकी अवस्था पचीस की रही होगी। कसरत करना और कुश्ती लड़ना उसे बहुत प्रिय था। एक दिन खेल-खेल में लल्लू वाजपेयी जी से मत्था लड़ाने लगा। वाजपेयी जी को एक युक्ति सूझ गयी। इन्होंने अपने शिर के पृष्ठ भाग को लल्लू के शिर पर पटक दिया। परिणाम यह हुआ कि लल्लू का मत्था सूज गया। लल्लू को वाजपेयी जी की बाल-बुद्धि पर बड़ा अचंभा हुआ। सभी

आश्चर्यचकित थे कि इतना छोटी अवस्था में यह युक्ति कैसे सूझ गयी ?

इसी सन्दर्भ में एक अन्य घटना है। दीवाली के दिन थे। पाँसे लेने के लिए लल्लू बाजार जा रहे थे। वाजपेयी जी उनके साथ हो लिये। पाँसे वाले की दूकान पर यह ऐसे बैठे कि इनके कुर्त्ते के छोर से दूकानदार के पाँसों का गट्ठर ढँक गया। इनकी बाल-बुद्धि जागी। शीघ्र ही दूकानदार की आँख बचाकर इन्होंने कुछ पाँसे अपनी जेब में डाल लिये। लल्लू जब वहाँ से चलने लगे तो यह भी चुपचाप उनके साथ चल दिये। थोड़ी दूर जाने पर इन्हें लगा कि जो पाँसे इनकी जेब में हैं, वे चोरी के हैं। यदि किसी ने देख लिया होगा तो घोर अपमान की बात होगी। वाजपेयी जी सोचने लगे—'यदि किसी ने देखा होता तो मैं अवश्य पकड़ा गया होता। सचमुच देखा किसी ने नहीं।' यह मान्यता लेकर जैसे ही यह आगे बढ़े, अपने आप से ही लड़ने लगे—'जरूर किसी ने देखा होगा। अभी तक नहीं पकड़े गये तो अब पकड़ लिये जायेंगे। और किसी ने नहीं देखा होगा तो भगवान ने तो अवश्य ही देखा होगा। वह सब जगह रहता है और सभी के हृदयों में निवास करता है।'

इस अन्तर्द्वन्द्व के परिणामस्वरूप वाजपेयी जी ने लल्लू से कहा—"मैं उसी दूकान पर एक चीज भूल आया हूँ।" यह कह कर वह दूकान की ओर लौट पड़े। दूकानदार को पाँसे देते हुए बोले—"आप बहुत बेखबर रहते हैं। मैं आपकी दूकान के ये पाँसे चुरा ले गया था और आपको पता तक नहीं चला।" दूकानदार बोला—"तुम ईमानदार लड़के हो। यदि चाहो तो ये पाँसे ले जा सकते हो।" इन्होंने कहा—"मैंने चोरी की है।" उसने पूछा—"तुम किसके लड़के हो ?" वाजपेयी जी बोले—"यह सब पूछ कर क्या करोगे ?"

तीसरी घटना कुछ विशेष रोमांचकारी है। एक बार वाजपेयी जी अपनी माँ के ममाने गये हुए थे। पता नहीं कैसे यह एक ऐसे जलाशय के पास पहुँच गये जो भयानक और गहरा था। जिज्ञासावश गहराई का पता लगाने के लिए वाजपेयी जी अपने कदम आगे बढ़ाने लगे। कुछ दूर जाने पर इन्हें आभास हुआ कि जलाशय उथला है। इसके बाद निर्भीकता से इन्होंने अपना दायाँ पैर बढ़ाया। गहराई इनके पीछे पड़ गयी। यह डूबने-उतराने लगे। हाँ, मन में एक बात अवश्य थी—'मैं मर नहीं सकता। कोई न कोई मुझे अवश्य बचा लेगा।' थोड़ी ही देर में दो डुबकियाँ लग गयीं। तीसरी डुबकी के समय किसी ने इनको पकड़ कर निकाला। चेतना आनेपर बोले—"और तो सब ठीक है। मैं भी ठीक हूँ। बच भी गया हूँ; किन्तु भगवान का पता नहीं है, जिन्होंने मुझे बचाया है।"

इन घटनाओं से पता चलता है कि वाजपेयी जी के जीवन की प्रस्तावना में

मामा और बड़े भाई के संस्कार काम कर रहे थे। ईश्वर के प्रति आस्थावादी दृष्टिकोण, आदर्श का सुष्ठु स्वरूप और सच्चाई तथा ईमानदारी वाजपेयी जी के जीवन में प्रारम्भ से ही थी। इन गुणों से व्यक्तित्व में उत्तरोत्तर विकास होता रहा।

## शिक्षा और अध्ययन

वाजपेयी जी की शिक्षा का शुभारंभ घर से हुआ। उनके मामा पं० जगन्नाथ-प्रसाद मिश्र संस्कृत भाषा के आचार्य थे। बड़े भाई (पं० रामभरोसे) ने अपने मामा से ही प्रेरणा पाकर संस्कृत की मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण की। इस बात से यह पता चलता है कि वाजपेयी जी के मामा के घर का वातावरण संस्कृतमय था। उनसे वाजपेयी जी ने ग्रहण की उपासना के प्रति आस्था, जो अब भी साथ-साथ चल रही है। यहाँ एक बात और कह दूँ कि वाजपेयी जी को जीवन के प्रारम्भ से ही रूढ़िवादिता स्वीकार नहीं थी। यह प्रभाव उनके पिताजी का था।

सन् १९१२ ई० में वाजपेयी जी ने प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद मिडिल फाइनल दीगर जबान उर्दू लेकर किया। कहना न होगा कि यही परीक्षा वाजपेयी जी की स्कूली शिक्षा की इति है। विद्यालय में अध्ययन करते समय आप भाषा और व्याकरण में अधिक रुचि लेते थे। यहाँ तक कि इसी विषय में प्राय: सर्वाधिक प्राप्तांक भी रहते थे।

जब वाजपेयी जी केवल सात वर्ष के थे तभी से उनकी संस्कृत भाषा की अभिरुचि का पता चलता है। सन् १९०६ की बात है। वाजपेयी जी 'ब' कक्षा के छात्र थे। इन्स्पेक्टर साहब निरीक्षण हेतु आये थे। उन्हें वाजपेयी जी के बाल-विद्यार्थी ने उत्साहपूर्वक 'शुक्लां ब्रह्म विचार···' वाली सरस्वती-वन्दना सुना दी थी। बालक की उत्साही प्रवृत्ति से इन्स्पेक्टर साहब प्रसन्न हुए थे और बड़ी सराहना की थी।

कक्षा ४ की परीक्षा देने के पश्चात् जिलापरिषद् की ओर से एक विशेष परीक्षा हुई। उसी परीक्षा में भाग लेने के लिए अपने प्रधानाध्यापक पं० शालिग्राम के साथ कानपुर गये। उनकी बुआ कानपुर में रहती थीं। परीक्षोपरांत प्रधानाध्यापक महोदय ने बताया था कि भाषा में वाजपेयी जी के लब्धांक ८० तथा गणित में ६० हैं।

वाजपेयी जी की मिडिल स्कूल की शिक्षा की कहानी बहुत कुछ वैसी ही है जैसी पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की अथवा मुंशी प्रेमचन्द की। इनके निवास-स्थान से अकबरपुर मिडिल स्कूल तीस या बत्तीस मील था। अधारी में आटा,

दाल, चावल लादकर ले जाना पड़ता था। ध्यान रहे कि यह वह युग था जब रुपये का बीस सेर गेहूँ बिकता था। मिडिल स्कूल में शिक्षा प्राप्त करते हुए वाजपेयी जी को दो रुपये वजीफे के मिलते थे। एक बार उन्हें इकट्ठे दस रुपये वजीफे के रूप में मिले। असीम प्रसन्नता हुई। विनोद यह रहा कि प्रधानाध्यापक महोदय ने इस बात को पाँच महीने के बाद बताया। जब कभी विद्यालय में अवकाश का प्रसंग आता था, वाजपेयी जी के सूखे हृदय में मंगल वर्षा होने लगती थी। प्रधानाध्यापक ने कहा—' कल सवेरे पढ़ाई नहीं होगी।'' वाजपेयी जी का बाल-मन खिल उठा। बाल-विद्यार्थी के लिए इससे बढ़कर उपलब्धि और हो ही क्या सकती है ?

यह तो हुई विद्यालय की शिक्षा सम्बन्धी बात। अब चला जाय साहित्य-मंदिर की ओर जिसमें प्रवेश पाने के लिये वाजपेयी जी निरन्तर अथक परिश्रम करते रहे हैं। हिन्दी जगत् इस तथ्य से भली भाँति परिचित है कि वाजपेयी जी अपनी साहित्य-साधना के प्रारम्भिक दिनों में कविता करते थे। पहले हिन्दी प्रवेशिका में मुख्य-मुख्य कवियों की रचनाएँ पढ़ी थीं। उनके प्रति सहज आकर्षण उत्पन्न हुआ था। पुरानी परिपाटी के अनुसार वाजपेयी जी ने अपना एक काव्य-गुरु खोजा था। उन्हीं की सत्प्रेरणा से वाजपेयी जी काव्य-क्षेत्र में आये थे।

श्री बाँकेबिहारी चतुर्वेदी नाम के एक काव्य-मर्मज्ञ और विद्या-व्यसनी सज्जन की प्रेरणा से वाजपेयी जी ने काव्य-शास्त्र पढ़ा। चतुर्वेदी जी का नाम मिश्रबंधु-विनोद' में आया है। आचार्य भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' तथा श्री भानु कवि विरचित 'छन्दःप्रभाकर' और 'काव्य-प्रभाकर' का अध्ययन वाजपेयी जी ने काव्य-क्षेत्र में आने के साथ ही कर लिया था।

अध्ययन की रुचि के फलस्वरूप 'सरस्वती', 'बंगवासी', 'प्रताप' आदि पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने का भी संयोग मिला। द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' का प्रथम अंक देखने का अवसर वाजपेयी जी ने पाया था। सन् १९१८ ई० तथा १९२० ई० के मध्य रवीन्द्र और शरद् के उपन्यास पढ़े। उनसे प्रेरणा मिली। हिन्दी के लेखकों में विशेष रूप से प्रेमचन्द जी को पसन्द किया।

सन् १९२३ ई० में वाजपेयी जी ने अंग्रेजी पढ़ने के लिए एक ट्यूटर नियुक्त किया। बंगाली भाषा भी ट्यूटर के माध्यम से सीखी (लखनऊ में), जब वे 'माधुरी' के सहकारी सम्पादक हो चुके थे। बंगाली ट्यूटर हिन्दी नहीं जानता था। इससे पढ़ने में कुछ असुविधा भी होती थी। यह समय सन् १९२५ ई० का रहा होगा। उसके पश्चात् फिर तो विविध विषय और बहुमुखी अध्ययन। और आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि वृद्धावस्था में

भी अध्ययन तीव्र गति से चलता रहता है। इतना अवश्य है कि पुस्तकों के अध्ययन के स्थान पर मानव-जीवन का अध्ययन प्रमुख हो गया है।

## जीवन की ऊँची-नीची घाटियाँ

वाजपेयी जी की जीवन-भूमि समतल नहीं है। उसमें कहीं तो ऊँची-नीची घाटियाँ हैं और कहीं रेतीले मैदान। कहीं आशा की अन्तःसलिला प्रवाहित हो रही है और कहीं बियाबान के भयंकर दृश्य हैं। यहाँ तक यह देख लिया गया कि वाजपेयी जी का प्रारम्भिक जीवन ग्रामीण वातावरण में पला और शिक्षा का क्रम भी वहीं चला। इसलिए स्वाभाविक रूप से वहाँ की संस्कृति का प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ा। स्कूली शिक्षा मिडिल से आगे नहीं बढ़ पायी। यह बात हम पीछे कह आये हैं।

सन् १९१८ में उनके जीवन-पथ ने एक नवीन मोड लिया। इसी वर्ष वाजपेयी जी कानपुर गये। इसके पहले २ वर्ष मंगलपुर में और ३ मास सिकन्दरा प्राइमरी स्कूल में उन्होंने अध्यापन-कार्य भी किया था। इसी बीच भविष्य की घटनाओं की सम्भावना ने उन्हें अध्यापक-पद से त्यागपत्र देने की प्रेरणा दी। त्याग-पत्र नहीं स्वीकारा गया। उलटे पदच्युत करने की धमकी भी दी गयी। यह निर्भीक और प्रशान्त चरित्र के सहारे अपने दृढ़ निश्चय पर अडिग रहे। सब-इंस्पेक्टर ने इनके साहस की प्रशंसा की तथा त्यागपत्र स्वीकार कर लिया।

हाँ, तो कानपुर आने पर वाजपेयी जी श्रीयुत् गणेशशंकर विद्यार्थी के माध्यम से 'होम रूल लीग' में लाइब्रेरियन नियुक्त हुए। यह लाइब्रेरी वर्तमान चित्रा स्टुडियो (मेस्टन रोड, कानपुर) के ऊपर थी। वाजपेयी जी का लाइब्रेरी का कार्यक्रम इस प्रकार था :—

७॥ बजे से ९॥ प्रातः ... ... वाचनालय
५ बजे से ९ सायं ... ... वाचनालय

कुल मिलाकर छः घण्टे का काम था। कुछ दिन बीते। वाजपेयी जी ने एक नई बात सोची। फलतः एक साझीदार के साझे में एक दूकान खुल गई। स्वदेशी कपड़ा, तेल, साबुन आदि बिकने लगा। दूकान कानपुर चौक में कुंजीलाल के शिवालय के पास थी। अनेक विकट परिस्थितियों की आँधी को झेलते हुए पत्नी के आभूषण आदि बेचकर यह काम किया गया था; किन्तु दुर्दिन परीक्षा ले रहा था। दूकान में चोरी हो गई। वाजपेयी जी के स्वप्न-प्रासाद ढह गये। अपना चेता कुछ न हुआ। इन्हीं दिनों एकाध महीने के लिए बंगाल बैंक में काम किया। वह काम भी छूटा। सम्भवतः यह बात सन् १९२० ई० की है।

इस अधूरी कहानी का अन्त करके वाजपेयी जी श्रीयुत् उदयनारायण जी वाजपेयी के माध्यम से 'संसार' मासिक में पहुँचे। तीन दिन में प्रूफरीडिंग सीखी। और केवल एक ही मास में साप्ताहिक टिप्पणियाँ लिखनी प्रारम्भ कर दीं। काम करने की गति इतनी तीव्र थी कि वाजपेयी जी एक घण्टे में पन्द्रह पत्र से कम नहीं लिखते रहे हैं। इधर 'संसार' की दशा भी बिगड़ी और वाजपेयी जी ने उसका उदय और अस्त दोनों को देखा।

'संसार' छोड़ने के बाद श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक के माध्यम से वाजपेयी जी का परिचय श्री दुलारेलाल भार्गव तथा श्री रूपनारायण पाण्डेय से हुआ। इस परिचय के आधार पर वाजपेयी जी को 'माधुरी' के सह-सम्पादन का कार्य-भार सम्भालने को मिला। अब यह सपरिवार लखनऊ में रहने लगे थे। यह सन् १९२२ या २३ रहा होगा। थोड़े दिनों तक मारवाड़ी अग्रवाल महासभा में काम करके वाजपेयी जी प्रयाग चले गये। वहाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सहायक मन्त्री नियुक्त हुए। समय-समय पर अनेक साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियों से परिचय होता रहा। सहायक मन्त्री के पद पर वाजपेयी जी चार वर्ष तक रहे।

यहीं से वे कहानी-साहित्य की ओर उन्मुख हुए। सन् १९२८ ई० में 'मीठी चुटकी' नामक उपन्यास साझे में लिखा। इसके पहले सन् १९२६ ई० में 'प्रेम-पथ' नाम की प्रथम कृति प्रकाश में आ चुकी थी। सन् १९३० में 'मधु-पर्क' कथा-संग्रह निकला। अब धीरे-धीरे उत्साह का रथ चल पड़ा और वाजपेयी जी का साहित्यकार विश्वास के बल के सहारे साहित्य के राज-पथ पर आगे बढ़ने लगा।

एक बार प्रयाग में हिन्दू बोर्डिंग में एक कवि-सम्मेलन हुआ। उसमें वाजपेयी जी ने 'पगली' कविता सुनाई। उस समय उस कविता की बड़ी धूम रही; किन्तु कवि-सम्मेलनों में भाग लेना उनकी रुचि के अनुकूल न पड़ने के कारण हिन्दी जगत् वाजपेयी जी की अधिक कविताएँ सुन न सका। उनकी रचनाएँ समय-समय पर 'ललिता' (मेरठ से प्रकाशित), 'प्रताप' (कानपुर से प्रकाशित) तथा 'उत्साह' (उरई से प्रकाशित) आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं।

प्रसंग सन् १९३२ ई० का है। वाजपेयी जी की भेंट सहारनपुर में श्री कन्हैया-लाल मिश्र प्रभाकर से हुई। उनकी वार्ता का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वाजपेयी जी ने प्रकाशन का काम छोड़ दिया। किन्तु लेखन-कार्य अनवरत चलता रहा।

सम्भवतः सन् १९३४ में प्रयाग में 'द्विवेदी मेला' का आयोजन किया गया। उसमें वाजपेयी जी ने साहित्य-विभाग का कार्य सम्हाला। विराट् कवि-सम्मेलन,

व्याख्यान, निबन्ध-पाठ आदि कार्यक्रम रखे गये थे। उस अवसर पर द्विवेदी जी का अभिनन्दन किया गया था। अखिल भारतीय स्तर पर तीन दिन का कार्यक्रम रहा। इस अनुष्ठान में वाजपेयी जी ने बड़े उत्साह से काम किया था। इसके पश्चात् तो तमाम संस्थाएँ और अनेक काम।

सन् १९३६ ई० में 'पतिता की साधना' और 'पिपासा' उपन्यासों के प्रकाशन के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में वाजपेयी जी का नाम उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हुआ। सन् १९४१ ई० में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में वाजपेयी जी को 'साहित्य-परिषद' का सभापति चुना गया। इन दिनों वे साहित्य के क्षेत्र में उत्तरोत्तर काम करते रहे। किसी ने इन्हें देखकर अपने घर का दरवाजा बंद कर लिया, किसी ने मौन साधा और किसी ने पुलक और प्रेम के साथ भुज-भर भेंटने के लिये अपनी बाँहें फैला दीं। अब तो वाजपेयी जी कहा करते हैं:—

'कला और संस्कृति के क्षेत्र में स्वतन्त्र अभिमत रखने का सबको अधिकार है। तटस्थता की सफलता अधिक आनन्द देती है; किन्तु अब युग बदल गया है। बिना प्रयत्न किये कोई भी साहित्यकार पनप नहीं सकता। पहले का साहित्य प्रचार-सापेक्ष नहीं था। आज का साहित्य विचारों का प्रचार है। आयोजित श्रद्धा के प्रति मेरा अनुराग अब तक नहीं है। जीवन की विकट घड़ियों में भी रचना का काम बन्द नहीं करना चाहिए; साथ ही आर्थिक समृद्धि के सामने झुकना भी ठीक नहीं होता।'

सन् १९४५ ई० में श्री अमृतलाल नागर की प्रेरणा से वाजपेयी जी बम्बई गये। महीना जनवरी का था। 'विष्णु सिनेटोन' के लिए कथा और गीत लिखने का कार्य वाजपेयी जी को मिला। निर्माता-निर्देशक थे नटवर-श्याम तथा धीरु भाई देसाई। सन् १९४९ ई० में वाजपेयी जी विभिन्न अनुभव लेकर और सिनेमा का अन्तिम 'शो' समाप्त करके इलाहाबाद लौटे। अक्तूबर चल रहा था। दिसम्बर में हैदराबाद में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ। वहाँ वाजपेयी जी की भेंट श्री विजयेन्द्र स्नातक से हुई। इन्हीं के माध्यम से गौतम बुक डिपो के मालिक से परिचय हुआ और 'गुप्त धन' प्रकट होकर सामने आया। सन् १९५० ई० में वाजपेयी जी कानपुर लौट गये और नियमित रूप से लेखन-कार्य में दत्तचित्त होकर काम करने लगे।

जीवन की इस लम्बी यात्रा में वाजपेयी जी को अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा है, किन्तु वे अजेय योद्धा की भाँति विजय-श्री पाने के लिए आगे बढ़ते रहे हैं। मुझे तो लगता है कि उनका लेखक आज भी बूढ़ा होकर जवान

है; क्योंकि उसमें एक लगन है, उत्साह है और कर्म के राजमार्ग पर चलने का अभ्यास है।

## वेश-भूषा एवं रुचि

जिन्होंने खादी की धोती और कुर्त्ता पहन कर राजपथ पर चलते हुए वाजपेयीजी को देखा है, वे इस तथ्य से परिचित होंगे, कि वाजपेयी जी फूंक-फूंक कर अपने कदम आगे बढ़ाते हैं। कुर्त्ते और सदरी की बेमेल संधि इतनी फबती है, कि खादी के दर्शन से रेशमी आनन्द प्राप्त हो जाता है। अब तो उनकी गति धीमी हो गयी है। प्रतीत होता है मंजिल को दूर से देख कर वाजपेयी जी धीमे चलने लगे हैं। किसी सभा में जाना हुआ, रेशमी कुर्त्ता निकल आया, उसके बटन देखे गए। यदि धोबी ने कुछ गड़बड़ किया तो जमाने को कोसा गया। पैरों में न्यूकट जूते, शरीर पर धोती, कुर्त्ता और सदरी के साथ अपने खुले सिर पर वाजपेयी जी जब टोपी लगाते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे युग के यथार्थ की नग्नता को ढँक रहे हों। शीतकाल में कुछ अधिक लम्बाई वाला कोट भी उनका साथी बन जाता है। ललाट अपनी सीमा का बन्धन तोड़कर शिर प्रदेश के अग्र भाग पर अधिकार करता हुआ आगे बढ़ गया है। अनुभव की रेखाएँ मूक भाषा में मस्तक से संकेत करती रहती हैं, कि संघर्ष और साधना ही जीवन है।

अपने घर पर वाजपेयी जी अपने कुछ काम नियमित रूप से कर लेते हैं—जैसे पूजा-पाठ, खाना-पीना और गप-शप। मेज पर बिखरी हुई पत्रिकाओं और पुस्तकों में खोई हुई दवा की टिकिया खोजते हुए प्रायः वाजपेयी जी को व्यग्र होते हुए मैंने देखा है। उनकी आवश्यकता के लेखन और शारीरिक उपचार संबंधी वस्तुएँ मेज पर ही रखी जायेंगी। ज्ञान मंडल के कोष से लेकर 'माधुरी' तक आप को वहाँ मिलेगी। मेज-घड़ी को वाजपेयी जी आगे बढ़ा कर रखते हैं जिससे कहीं जाने में देर न हो। किसी काम को करने में वे समय का समुचित ध्यान रखते हैं। मिलने वालों से वे नमक तेल लकड़ी से लेकर युगीन राजनैतिक और साहित्यिक समस्याओं तक पर बहस करने से नहीं चूकते। गृहस्थी के काम-काज में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। दूध लाने में कभी-कभी देर भी हो जाती है, किन्तु घर की झिड़कियों के डर से दवा डाक्टर के यहाँ से समय पर आ जायगी। बिगड़ा हुआ टेबुल फैन समय से ठीक कराया जायगा और कभी-कभी व्यक्तिगत कामों के लिए आगन्तुकों से नमस्कार भी कर लिया जायगा।

वाजपेयी जी से अब बहुत दूर पैदल नहीं चला जाता। जीवन की लम्बी यात्रा करने के पश्चात् यह स्थिति स्वाभाविक है। प्रतीत होता है—'चरणों

की चंचलता अब मन के पास पहुँच गयी है। बच्चों के साथ वे बच्चे हैं, युवकों के साथ युवक तथा अपने मान्य के समक्ष शालीनता और विनम्रता की साक्षात् सजीव प्रतिमा। घर से बाहर कहीं भी रहें, किन्तु ध्यान घर की ओर लगा रहता है। उदासी के क्षणों में व्यग्र और चिन्तित; किन्तु हँसी में वाजपेयी जी की कुछ और ही बात होती है। उनका मुक्त हास्य देख कर आप अनुमान लगा सकते हैं कि वाजपेयी जी के व्यक्तित्व में बनावट नहीं अपितु सहजभाव है। इस बनावटी समाज में मुसकराना और हँसना मात्रानुसार अच्छा माना जाता है। आह्लाद के क्षणों में वाजपेयी जी को यह बनावटी नाप-तौल पसन्द नहीं है। किसी नैसर्गिक सौन्दर्य को देखकर वाजपेयी जी प्रसन्न होते हैं, किन्तु दो मकान मालिकों का झगड़ा भी वे बड़े चाव से देखते हैं। कदाचित् सोचते हों कि उपन्यासों में ऐसा चित्रण किया गया है या नहीं!

स्वाभिमान वाजपेयी जी के स्वभाव का अंग है। उनके जीवन में इसका बड़ा महत्त्व है। उनके मन की मौज है। जहाँ अच्छा लगा, वहाँ गये; अन्यथा स्पष्ट रूप से कह दिया। खाने में जितने प्रवीण खिलाने में उतने आगे। घर या बाहर कहीं भी हो। कभी-कभी बड़े वायदों को वाजपेयी जी सस्ते निपटा देते हैं, जैसे चन्द्रमा मांगने वाले बच्चे को कोई बुजुर्ग पिता गुब्बारे से फुसला दे। दूसरों का समय तो वार्तालाप में लगाने में वाजपेयी जी को कोई हिचक नहीं होती, किन्तु अपने लिखने और पढ़ने का ध्यान उन्हें सदैव रहता है, कदाचित् सपने में भी।

## प्रेरणा और प्रभाव

वाजपेयी जी के उपन्यासकार को विशिष्ट मानव चरित्रों से प्रेरणा मिली है। इस प्रसंग में गाँधी जी का नाम लिया जा सकता है। जीवन दृष्टिकोण आदर्शवादी होने के कारण आदर्शवादी व्यक्तित्वों का प्रभाव लेखनी पर पड़ना स्वाभाविक है। इस दिशा में असामान्य मानव-प्रकृति के माध्यम से पात्रों की रचना भी की गयी है। जीवन-सौख्य के समस्त साधनों से परिपूर्ण व्यक्ति का जीवन वाजपेयी जी की दृष्टि से सार्थक है। जो व्यक्ति अपने गार्हस्थ्य जीवन के संचालन में कुशल सिद्धहस्त नहीं होता उसे वे आदर्शहीन मानते हैं। इसी कारण उनके उपन्यासों में आदर्शों का अनुसंधान है।

कभी-कभी जीवन में ऐसी भी स्थिति आती है कि उत्तम चरित्रों के जीवन में निराशाओं का अन्धकार छा जाता है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति को अपना पथ नहीं सूझता। इस प्रकार का दृश्य वाजपेयी जी को पीड़ा पहुँचाता है। यह प्रवृत्ति भी गाँधीवादी विचारधारा के मेल में है। वाजपेयी जी के उपन्यासों के पात्रों के

चरित्रों पर गाँधीवाद का प्रभाव पड़ा है। कहीं-कहीं मार्क्सवादी दर्शन भी दृष्टि-गोचर होता है; किन्तु उसका रूप अहिंसा-प्रधान है। अस्तित्ववाद-आस्थावाद का द्वन्द्व भी वाजपेयी जी के साहित्य में मिलता है।

जहाँ समाज में परिवर्तन लाने की बात होती है वहाँ वाजपेयी जी मार्क्सवाद का आदर्श पसन्द करते हैं। उनकी यह मान्यता केवल बौद्धिकता की एक दिशा-मात्र है। इसे वे अपने उपन्यासों में चरितार्थ नहीं कर पाये। कहीं-कहीं उनके पात्रों में मार्क्सवादी क्रान्ति की भावना-मात्र मिलती है जो एकान्ततः निष्प्रयोजन जान पड़ती है; क्योंकि उद्देश्य ऐसा नहीं रहता है। अपने उपन्यासों में वाजपेयी जी क्रान्तिकारी को उतना महत्त्व नहीं देते जितना त्यागी और तपस्वी को। उनके चरित्र सिद्धान्त पर मर मिटना नहीं चाहते। वे समझौतावादी हैं। कुल मिलाकर मध्यमवर्गीय जीवन की व्याख्या यह सिद्ध कर देती है कि वाजपेयी जी दुःख-दर्दों की कथा अवश्य कहते हैं किन्तु संतोष उन्हें सम्पन्नता में होता है। वे महाजनी सभ्यता के विरुद्ध हैं। साथ ही उनकी लेखनी को नैतिकता की धरती की आवश्यकता सदा बनी रहती है जिस पर नये विचारों के हरे-भरे नवांकुर आ सकें। नवीनता के नारे लगाने वाले चरित्रों का गठन तो उन्होंने किया ही है, साथ ही जन-जीवन के लिए आशा की ऐसी मन्दाकिनी भी संजोयी है जो द्वन्द्वों में उलझे हुए मानव-समाज को जीने की कला बता सके। उनके जीवन-दर्शन की पोथी में लोक-कल्याण और जन-जीवन का अध्याय विशेष महत्त्व रखता है। और बस इसीलिए गाँधी जैसे मनीषी की राह को वे पसन्द करते हैं। परिणामतः वे समाज की रुग्णता का सुधार अहिंसावादी निदान में खोजते हैं। शल्यकर्म की ओर ध्यान नहीं जाता है। और आज की आवाज भी बहुत कुछ इसी प्रकार की है।

---

# २ अवतरण

पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी उस युग के उपन्यासकार हैं, जिस युग में उपन्यास मनोरंजन के कठघरे से बाहर निकल आया है। बाहर आकर उसने मानव-जीवन को अपने अंक में समेटने का प्रयास किया है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि वाजपेयी जी मानव-जीवन के चित्रकार हैं। अपनी चित्रण-कला में उनकी अपनी पृथक् तकनीक है जिसके प्रति वे सदैव स्वच्छन्द और उदार हैं। वैसे जब कभी वे अपनी लेखनी लेकर लिखने बैठे हैं, उनके सामने यह समस्या नहीं रही कि क्या लिखा जाय ? इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है :—

"ध्यान से देखता हूँ तो याद आता है कि जब-जब मैं लिखने बैठा हूँ, ऐसा कभी नहीं हुआ, कि मेरे सामने अधिक देर तक यह प्रश्न खड़ा रह सका हो कि मैं क्या लिखूँ।"[1] लेखक की उपर्युक्त बात का प्रमाण उसका साहित्य-सर्जन है। सन् १९२८ से लेकर आज तक शायद ही कोई अभागा वर्ष बिना वाजपेयी जी की कृति का गया हो।

सर्वप्रथम वाजपेयी जी हिन्दी उपन्यास साहिय में अपना 'प्रेम-पथ' लेकर आते हैं। वैसे अब तो वे राजपथ की बात करने लगे हैं। बहुत कुछ संभव है कि उनका 'प्रेम-पथ' ही 'राजपथ' हो गया हो। मेरा विश्वास है उन्हें आपत्ति भी नहीं होगी। 'प्रेम-पथ' की भूमिका प्रेमचन्द जी ने लिखी थी, यह संयोग भी कम महत्त्व-पूर्ण नहीं था। लेखक की प्रथम कृति के सम्बंध में प्रेमचन्द जी ने कहा था कि "हिन्दी जगत् को लेखक की यह अनुपम देन है।"[2] जहाँ तक प्रेम सम्बंधों की बात है, प्रेमचन्द वाजपेयी जी से मेल नहीं खाते; किन्तु 'नारी के विद्रोह' की दृष्टि से वे प्रेम-पथ को ठीक कहते हैं।

प्रत्येक साहित्यकार का अपना एक ढर्रा होता है। उसी पर चलना वह पसन्द करता है। वाजपेयी जी ने अपने प्रायः सभी उपन्यासों में मध्यम श्रेणी के समाज का वर्णन किया है। समाज में घटित होने वाले चित्र यदि यथार्थ भाव-भूमिका

---

१. मेरी लेखन-प्रक्रिया : ३-८-६५ को भोपाल रेडियो स्टेशन से प्रसारित।
२. प्रेम-पथ : भूमिका

में विद्रूप लगें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि अपने देश में वास्तविकता को भुलाकर आदर्श की सुमिरनी जपने वालों की कमी नहीं है। वाजपेयी जी के विचारों को भी उनकी लेखन-प्रक्रिया के प्रसंग में देखिए—"जैसा कुछ समाज को देखा, मैंने अनुभव किया, वैसा व्यक्त करने में चिन्ता का कोई कारण नहीं है। इस बात का डर भी नहीं है कि कोई क्या कहेगा? जीवन और समाज के आलोचन में संकोच करना मेरा धर्म नहीं। इसके विपरीत खुलकर लिखने बतलाने, उसपर सोचने और विचार करने में लेखक के नाते मैं सर्वथा स्वतंत्र हूँ। मुझ पर किसी प्रकार का कोई बंधन नहीं है।" यह तो बड़ी अच्छी बात है। किसी भी स्वाधीन देश का लेखक कुछ इसी प्रकार की स्वतंत्रता चाहेगा। बीसवीं शती के साहित्यकार कॉनरेड महोदय ने लिखा है—

"I am a man of formed character. Certain conclusions remain immovably fixed in my mind, but I am no slave to prejudices and formulas and I shall never never be. My attitude to subjects and expressions, the angles of vision, my method of composition will within limits, be always changing—not because I am unstable or unprincipled but because I am free. Or perhaps it may be more exact to say, because I am always trying for freedom within my limits.'

वाजपेयी जी की प्रारम्भिक कृतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी सीमाओं में वे भी स्वतंत्र हैं। उनके भी अपने सिद्धान्त हैं, जीवन-सम्बंधी दृष्टि-कोण हैं, अभिव्यक्ति का निजी स्वरूप है और चलने का अपना ढंग है। देखिए वे क्या कहते हैं—"सड़क हो कि प्लेटफार्म, प्रदर्शनी का प्रांगण हो या नवीन से नवीन मार्केट। चलते-चलते सामने आ पड़नेवाला व्यक्ति मेरा पात्र बन सकता है, यदि उसकी भाव-भंगिमा में असाधारण आकर्षण है।" अपनी इसी धारणा के अनुसार यदि लेखक ने अपनी कृति का नायक किसी चलते-फिरते (चलते-पुर्ज़े भी कह सकते हैं) व्यक्ति को बनाया तो लेखक की कल्पना ही पूर्णरूपेण नायक की रचना करेगी, क्योंकि उसके जीवन से परिचय प्राप्त करना समय के अभाव के कारण कठिन है। एक बात इस प्रसंग में नहीं भूलनी चाहिए कि वाजपेयी जी की प्रारम्भिक कृतियों से लेकर आज तक की कृतियों में प्रायः सभी वर्णों, वर्गों और जातियों के लोगों को बराबर स्थान मिला है। यह भी बड़े सौभाग्य की बात है कि फिरकापरस्ती के युग में वाजपेयी जी की लेखनी तटस्थ है। वे झमेले में नहीं पड़ते।

'पतिता की साधना', 'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'लालिमा' तथा 'पिपासा' आदि कृतियाँ अपने अन्तराल में कथावस्तु का वह रूप लिए हैं जिसमें किसी न किसी समस्या की ओर संकेत किया गया हो अथवा समाधान का मार्ग खोजा गया हो। वाजपेयी जी का 'प्रेम-पथ' सन् १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। ऊपर अंकित उपन्यास भी दस-बारह वर्ष के हेर-फेर से प्रकाशित हुए। इस काल के प्रकाशित उपन्यासों में मुंशी प्रेमचन्द का 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला', 'गबन', 'कर्म-भूमि' और 'गोदान', जयशंकर 'प्रसाद' का 'कंकाल' और 'तितली', कौशिक जी का 'माँ' और 'भिखारिणी', जैनेन्द्र जी का 'परख', 'सुनीता' और 'त्यागपत्र', सियारामशरण गुप्त का 'गोद', 'अंतिम आकांक्षा', और 'नारी', भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष', निराला के 'अलका' और 'निरुपमा', उग्र के 'चन्द हसीनों के ख़तूत', 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', 'सरकार तुम्हारी आँखों में' के नाम प्रमुख हैं। इनमें उग्र जी को छोड़कर सभी के मार्ग बहुत कुछ समता रखते हैं। इन उपन्यासों में मिर्जापुर की सुरंगों का चमत्कार तो नहीं था; किन्तु समाज का दर्द अवश्य था। समाज की कहानी छपकर जब समाज के सामने आयी तो बड़े चाव से पढ़ी गयी। किसी ने उच्च वर्ग के चित्र उरेहे, किसी ने मध्यम वर्ग की सीधी सादी रेखाओं में रंग भरा और किसी ने निम्न वर्ग के चित्रण में अपनी कला का परिचय दिया। समाज की समस्या (विशेष-कर नारी समस्या) का चित्रण बड़ी तीव्रगति से हुआ। बाना आदर्शवादी अधिक, और यथार्थवादी कम रहा।

कहना न होगा कि पं० भगवतीप्रसाद जी वाजपेयी का क्षेत्र अधिकांशतः भारतीय मध्यम वर्ग रहा है। वहीं का प्रेम, वहीं की कहानी और वहीं की समस्या। वाजपेयी जी की लेखनी ने विधवाओं के दर्द में आँसू बहाये हैं। उनका हृदय बाल-विवाह के विरुद्ध विद्रोही बन बैठा है। रूढ़िवाद और सांस्कृतिक आदर्श के नारों की फीकी आवाज से उनका मन प्रताड़ित हुआ है। 'मीठी चुटकी' का लक्ष्य वह नारी बतायी गयी है जो शिक्षिता होकर भी व्यंग्य-वचनों के आघात सहती है। निन्दा और अविश्वास उसकी आशाओं पर पानी फेर देते हैं। 'अनाथ पत्नी' की रचना के पीछे भी वही उद्देश्य रहा है कि सामाजिक कुप्रथाओं ने मानव-सभ्यता की बाढ़ को बौनी कर दिया है। इन रचनाओं में 'क्या है?' के साथ 'क्या होना चाहिए ?' की पूर्ति भी होती चलती है। 'त्यागमयी' में इस बात का सच्चा निदर्शन पाया जाता है।

उपन्यासों के सम्बंध में श्री उदयशंकर जी भट्ट ने लिखा है :

"प्रेम-पथ', 'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'लालिमा' तथा 'प्रेम-निर्वाह'

उपन्यासकार होने की इच्छा से लिखे गये उपन्यास हैं। त्यागमयी में उनकी प्रतिभा के बीज हैं।''[१] वस्तुतः उपन्यासकार समाज का चित्रण प्रस्तुत करता है। यदि कहीं उसने असंभाव्य घटनाएँ प्रस्तुत कीं तो अस्वाभाविकता का आ जाना स्वाभाविक है। इसलिए लेखनी को अनुभूति की स्याही सदैव मिलती रहनी चाहिए। प्रत्येक लेखक की प्रारम्भिक कृतियाँ अनगढ़ होती हैं। कालिदास और वाल्मीकि की बात तो हम नहीं करते; किन्तु भौतिकवादी युग का लेखक साधना के उस स्तर को कैसे पा सकता है ? प्रारम्भिक कृतियों का महत्त्व विषय-वस्तु की दृष्टि से अलग है, किन्तु शैली के निखार और परिमार्जन में उनका बड़ा हाथ रहता है। भाषा और प्रस्तुतीकरण में भी उनका महत्त्व है।

'पतिता की साधना' का प्रकाशन काल सन् १६३६ ई० है। 'मैटर' और 'मैनर' की दृष्टि से यह उपन्यास अपने ढंग का बेजोड़ है। इस कृति के पात्र बोलते हैं—साथ ही पाठकों के मन को आकर्षित कर लेते हैं। जहाँ आदर्श का हिमालय अपनी अटल समाधि लगाये है वहीं यथार्थ की यमुना करवटें बदलती रहती है जिसका प्रभाव मानव-समाज पर पड़ता रहता है। इसी दर्शन का उन्मेष इस कृति में मिलता है। नन्दा (उपन्यास की नायिका) का चरित्र यथार्थवादी होते हुए भी आदर्शवादी है। 'पतिता की साधना' के पश्चात् सन् १६३७ में 'पिपासा' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास तक आते-आते वाजपेयी जी की शैली में निखार आ गया है। मनोवैज्ञानिक चित्रण से तकनीक में स्वाभाविकता और मौलिकता आयी है। कमलनयन की कुण्ठा के माध्यम से उसकी 'पिपासा' का पता चलता है। उसके रहन-सहन के अनुकूल उसके क्रिया-कलाप नहीं हैं। अकिंचनता और परमुखापेक्षिता से चूर इस मानव-समाज को यदि सन्तोष मिल जाय तो उसको जीवन के चरम उद्देश्य का विराम मिल गया। इसलिए उसे चाहिए असंतोष, जिससे वह आगे बढ़ सके। मनोविज्ञान की इन्हीं धाराओं में 'पिपासा' की वस्तु आगे बढ़ती है। संसार के प्रलोभनों से कलाकार बँधता नहीं है।

इधर नारी हृदय की साध ने शकुन्तला के मन में ऐसी भावना भर दी कि वह कमल की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखती है। इस पारस्परिक सहानुभूति के पीछे भी एक चाल थी। सुधीजन समझ गये होंगे। कमल और शकुन्तला के हृदय एकमेक हुए। इसी उपन्यास का एक पात्र है, नरेन्द्र। उसके चित्रण में वाजपेयी जी की लेखनी सजग है। वस्तुतः वे मानव-मन के कुशल चितेरे हैं।

---

१. वाजपेयी जी का अभिनन्दन-ग्रंथ : पृष्ठ ८६, ८७

कमल और शकुन्तला के परिचय में इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि दोनों पति-पत्नी नहीं थे। किन्तु इतना होते हुए भी कमल का आकर्षण शकुन्तला के प्रति था जो कि नरेन्द्र की पत्नी थी। अन्त में नरेन्द्र को भी दोनों के परस्पर आकर्षण का पता चल जाता है। इन चरित्रों के संबंध में तो आगे विचार किया जायगा। यहाँ हमें यह बात देखनी है कि 'पिपासा' की रचना में उपन्यासकार अपनी पूर्व-कृतियों से कितना आगे है ? घटनाओं का संयोजन, कथा का प्रवाह, संवादों की चारुत, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, भाषा का परिमार्जित रूप तथा उद्देश्य की दृष्टि से पूर्व-कृतियों से 'पिपासा' आगे है। पात्रों का संयोजन पूर्वनियोजित जैसा होने पर भी पाठकों को आकर्षित करता है—यह बात किसी कृति के महत्त्वपूर्ण होने का सच्चा प्रमाण है।

'पिपासा' के पश्चात् 'दो बहनें' कृति प्रकाशित हुई। यह ईसवी सन् १९४० था। अब वाजपेयी जी का उपन्यासकार प्रकाश में आ गया था। सामाजिक समस्याएँ सुरसा की भाँति मुँह फैलाए खड़ी थीं। उनकी ओर झुकना साहित्यकार का धर्म था, और साथ ही समाज की प्रत्येक बातों के सम्बन्ध में उसे जानकारी रखनी चाहिए। विलियम होगार्थ ने तो यहाँ तक कहा है :

The art of description is not easy; but with patience and practice so much of it can be cultivated as is necessary for ordinary purposes. You must learn to look at the picture with the eye of the painter, buildings with the eye of the architect, listen to sound as carefully as musician.' [१]

देखने में, सुनने में, निरीक्षण करने में वाजपेयी जी अपनी प्रतिभा का परिचय देते हैं। अन्त में परिणाम सामने आ जाता है। 'पिपासा' और 'दो बहनें' की दार्शनिक पृष्ठभूमि में कोई विशेष अन्तर नहीं है। चर्चा की दृष्टि से किसी सीमा तक दोनों के स्तर में साम्य पाया जाता है।

इन उपन्यासों के प्रकाशन के पश्चात् वाजपेयी जी का स्थान हिन्दी उपन्यास-लेखकों में निश्चित हो चुका था; किंतु प्रतीत होता था कि वही मध्यम वर्ग के परिवार की कहानी, प्रेम सम्बन्धों की उलटफेर का वही रूप, जीवन-क्रम का एक ही मार्ग चलते, देखते और कहते वाजपेयी जी का लेखक अघाता नहीं। यह बात निर्मूल सिद्ध तब हुई जब उनकी लेखनी ने हिन्दी साहित्य को 'निमंत्रण' दिया।

---

1. **William Hogarth : Technique of Novel Writing.**

'निमंत्रण' का प्रकाशन-काल सन् १९४२ है।[1] इस समय की भारतीय राजनीतिक सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थिति किसी से छिपी नहीं है। कुछ तो परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप और कुछ अपने मार्ग को नया मोड़ देने की दृष्टि से 'निमंत्रण' की रचना हुई। इस उपन्यास में लेखक परिवार से निकलकर समाज में आया है। उसने अपनी सीमाओं का विस्तार किया है। यद्यपि चित्रण यथार्थवादी है, किन्तु गिरधारीलाल का चरित्र सर्वथा आदर्शवादी चित्रित किया गया है। यहाँ तक कि पाश्चात्य सभ्यता से अभिभूत मालती और उसकी माँ के साथ-साथ तारिणी और पूर्णिमा नाम की भाभियाँ भी गिरधारीलाल के चरित्र से प्रभावित होती हैं। वस्तुतः इस कृति के प्रणयन के मूल में कौन-कौनसी बातें रही हैं यह जानने के लिये निम्नलिखित उद्धरण पर्याप्त होंगे :—

> 'शर्मा जी सोचते थे—मनोरंजन! कैसा मनोरंजन!! गुलाम और पतित देश, रूढ़ियों और परम्पराओं में बँधा हीन समाज और संघर्ष जर्जर मनुष्य को क्या इतना अवसर है कि वह मनोरंजन को खोजता फिरे।' [**'निमंत्रण'**, पृष्ठ १२]
>
> '...शर्मा जी बोल उठे—युग कितना बदल रहा है कभी आपने सोचा है? सोचा है कभी, कि आज हमारे देश को कला के नाम पर वायलिन की मधुर झंकार, अभिनय और नृत्य कला के नव-नव प्रकारों की अधिक आवश्यकता है या उस संगठित शक्ति और स्वाधीनता की जो मदान्ध फासिस्ट देशों के आक्रमणों से हमें बचा सके—हमारी संस्कृति की रक्षा कर सके? कर सकेगी रक्षा उसकी उस समय तुम्हारी यह कला, जब फासिस्ट देशों के सैनिक हमारी सभ्यता, संस्कृति और सामाजिक मर्यादा को भंग करने, उसे कुचलने आएँगे।'
>
> [**'निमंत्रण', पृष्ठ २२, २३**]
>
> '...शर्मा जी बोल उठे—तुम्हारे तर्क बहुत पुराने हैं। कला की सार्थकता मनुष्य को केवल तरंगित, विह्वल, विवश और अचेत कर देने में नहीं, जीवन के विकास में उसको सजग, सतर्क, सचेत, आरूढ़, कटिबद्ध और उत्तेजित करने में भी है। फिर गुलाम, पंगु और असमर्थ जनता

---

१. श्रीयुत् ईश्वरदत्त शील का शोध-प्रबन्ध हिन्दी उपन्यासों पर है। उसमें उन्होंने प्रथम प्रकाशन का सन् १९४२ दिया है। मुझे ठीक से स्मरण नहीं है—एक लेखक महोदय ने 'निमंत्रण' का प्रकाशन सन् १९५० लिखा है। श्रीयुत् वाजपेयी जी से निराकरण करने पर प्रथम प्रकाशन सन् १९४२ ही ठीक है। उनके अभिनन्दन-ग्रंथ में भी यही समय है।

की यह पहले दर्जे की कायरता है कि वह सरकार के उन स्वेच्छापूर्ण विधानों को भी, जो उसने व्यवस्था और शान्ति-रक्षा के नाम पर प्रचलित किये हैं, वरदान मानकर चुपचाप सहन करती जाय।'

['निमंत्रण', पृष्ठ २५, २६]

'आज की सभ्यता का सबसे घातक और विषाक्त रूप वहीं प्रतिष्ठित होता है जहाँ कटु सत्य पर पर्दा डाल दिया जाता है। बाद में रोने-धोने और अन्य ढंग से पश्चात्ताप करने से क्या होता है ! घटनाओं के वीभत्स और नाटकीय दृश्य आज के लिए सर्वथा नवीन तो हैं नहीं। मनुष्य अपनी ही बनायी हुई रूढ़ियों और नाशकारी मान्यताओं से अपना सिर चाहे जितना धुनता रहे किन्तु उसकी अनिवार्य बुभुक्षा की जलन जब भी अवसर पायेगी अपना भैरव नृत्य करके ही शान्त होगी। नैतिक सीमाएँ बनेंगी और नष्ट होंगी, आदर्शों का स्थापन एक बार होगा, पुनः मिट जाएगा।'

['निमंत्रण', पृष्ठ २७७]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'निमंत्रण' में पूँजीवाद का विरोध, राष्ट्रवाद का पक्ष, आदर्शवाद की वकालत, वर्गवाद का अंत तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता का स्वर ऊँचा किया गया है। मानव और मानव के बीच की दूरी कम करने की बात सोची गई है—क्रान्ति और विद्रोह से नहीं अपितु शान्ति और प्रेम से। इस प्रकार की विचारधारा में भी मानसिक द्वन्द्व और प्रेम का लासा कैसा काम करता रहा है, आगे चलकर इस बात पर विचार किया जायगा।

'निमंत्रण' के पश्चात् वाजपेयी जी का 'गुप्तधन' प्रकट हुआ है जो अब लेखक और प्रकाशक की महिमा से 'एकदा' नाम से जाना जाता है। इस कृति का प्रथम प्रकाशन हुआ था सन् १९५० ई० में और 'एकदा' नाम पड़ा था सन् १९५७ ई० में।

'गुप्तधन' में वाजपेयी जी पुनः मध्यवर्गीय जीवन की आधार-भूमि पर आ गये हैं। यद्यपि इस कृति की चर्चा साहित्य में अधिक रही किन्तु शैली की दृष्टि से कोई ऐसी नवीनता नहीं पायी जाती जो पूर्व-प्रकाशित कृतियों में न हो। कोई तो इस उपन्यास को मनोवैज्ञानिक पहुँच मानता है, कोई सामाजिक चित्रण कहता है और कोई इसे एकान्ततः मौलिक उपन्यास कहता है।

बात कुछ भी हो, इसमें भी अपने आदर्शवादी सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है। जगत् में चाहे जो कुछ हो, परिस्थितियाँ चाहे जैसी हो जाएँ, किन्तु वाजपेयी जी का उपन्यासकार अपने आदर्शों से नहीं हटता। ऐसा

करने में भले ही उसे 'सुपर ह्यूमन' चरित्र गढ़ना पड़े। रही बात यथार्थ और सत्य की, उसके सम्बन्ध में 'गुप्तधन' को लेकर यह कहा जा सकता है कि जीवन का सत्य और यथार्थ बड़ा कड़ुवा होता है और उसके लिए वाजपेयी जी सदैव आदर्श की चासनी तैयार किये रहते हैं। यही बात 'गुप्तधन' में भी पायी जाती है। इस उपन्यास में प्राचीन युग के खण्डहरों के चित्र नहीं उरेहे गये हैं और न कल्पना की लहरों पर उड़ान ही भरी गयी है। यहाँ तो है अपना समाज। बना है तो लेखक ने यथावत् अंकित किया है और नहीं तो काट-छाँटकर अपने व्यक्तित्व की मुहर लगाता गया है। 'गुप्तधन' का प्रकट आकार-प्रकार लघु होते हुए भी हिन्दी साहित्य में इसने जो ख्याति अर्जित की, वह कम कृतियोंको मिल पाती है।

सन् १९५१ में 'चलते-चलते' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ। वस्तु और शैली की दृष्टि से यह कृति अपनी पूर्व-कृतियों से सर्वथा पृथक् जान पड़ती है। कथावस्तु के गठन की दृष्टि से इस उपन्यास में नयापन अवश्य पाया जाता है, किन्तु सारी आनुषंगिक घटनाएँ एक ही मुख्य घटना में अनुस्पूत नहीं जान पड़तीं। हम आगे चलकर इस सम्बन्ध में विस्तार से सोचेंगे। यहाँ 'चलते-चलते' के कुछ अंशों को देखिए जिनके आधार पर कृति के सन्दर्भ में एक धारणा बनायी जा सके :—

> "मैं जैसा कुछ अपने जीवन में बन पाया हूँ, इस रचना में उसकी झलक यदि कहीं काल्पनिक मात्र है तो जैसा मैं बहुत चेष्टा करने पर भी नहीं बन पाया उसकी असफलताओं से संलग्न अनेक दृश्यावलियाँ और घटनाएँ ऐसी भी हैं जिन्होंने मेरे मन के तार को झंकृत किया है। इसलिए यह कथा न तो एकदम से काल्पनिक ही है, न सत्य कथन। वास्तव में यह दोनों का एक मिश्रित रूप है।"[1]

> "मानवी सभ्यता ने आज इतनी अधिक उन्नति कर ली है कि मनुष्य मनुष्य न रहकर खूँखार जानवर हो गया है। पहले भी ऐसी पैशाचिक घटनाएँ हमारे देश में होती रही हैं; किन्तु उस समय हम सर्वथा परवश थे। विमल पक्षपात-हीन, अर्थ महिमा से सर्वथा मुक्त न्याय की आशा हम नहीं कर सकते थे। समाज का निखिल शक्तिशाली वर्ग राज-सत्ता का मित्र था। इस कारण न्याय के स्थान पर व्यक्तिगत और वर्गगत प्रभाव काम कर जाते थे।"[2]

---

१. चलते-चलते : भूमिका, पृष्ठ २
२. चलते-चलते : पृष्ठ ७१

"तो आज की इस सभ्यता ने मनुष्य को कुत्ता बना डाला है। पैसे की माँग, पैसे की पुकार और पैसे की भूख ! पैसा ! हाय पैसा ! यह कैसी चिल्लाहट है ?...उफ ! बिल्कुल वही आवाज़ें हैं, जैसी भौंकने पर होती हैं।"[1]

प्रस्तुत उद्धरणों पर विचार करते हुए एक बात और ध्यान में रखनी होगी कि वाजपेयी जी 'चलते-चलते' उपन्यास को अपने मन की कृति मानते हैं। पूरी कृति में स्थल-स्थल पर नयी सभ्यता की उस रोशनी के प्रति लेखक पात्रों के माध्यम से (कहीं-कहीं स्वयं भी) अपना आक्रोश प्रकट करता दिखायी पड़ता है जो मानवता को पीस डालती है। इस ऊपर से उजली सभ्यता ने मनुष्य मनुष्य के बीच की दूरी को बढ़ाया है। इससे आत्मीयता और भ्रातृ-भावना को ठेस पहुँची है। जन-कल्याण के स्थान पर आत्म-कल्याण अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। इन सारी बातों का दिग्दर्शन मुरली बाबू उर्फ राजहंस, हीरा, लाला साँवरे, राजन भाभी तथा जमना आदि पात्रों के माध्यम से कराया गया है। पूरा उपन्यास स्वयंकथन शैली में होने के कारण लेखक को अपनी बात कहने की गुंजाइश होती गयी है जिसका संकेत उसने भूमिका में दे दिया है।

'चलते-चलते' की रचना के पहले लेखक को सिनेमा-संसार में अपना समय बिताने का अवसर मिला था। वहाँ की अनुभूतियाँ 'चलते-चलते' उपन्यास में मुखर होकर बोल उठती हैं। चाहे वह सामाजिक दृष्टि से आँकी गयी हों अथवा व्यक्तिगत। वस्तुतः 'चलते-चलते' वास्तविक किन्तु बनावटी संसार का यथा-तथ्य चित्रण है। और विशेषता तो इस बात की है कि पाठक को समस्त घटनाएँ परिचित-सी लगती हैं। प्रतीत होता है कि यह चित्र तो अभी-अभी देखा था। और यही कृतिकार की सबसे बड़ी उपलब्धि और सफलता है।

सन् १९५२ ई० में वाजपेयी जी की प्रसिद्ध कृति 'पतवार' प्रकाशित हुई जो लेखक और प्रकाशक की योजना से सन् १९६४ ई० में 'राजपथ' नाम से दिखायी पड़ी। इस उपन्यास की भूमिका (अन्तर्नाद) में वाजपेयी जी लिखते हैं :—

"मेरी मान्यता है, कि निश्चित है मनुष्य का अपना विश्वास उसकी अपनी लगन।"

"कुछ लोग निर्दिष्ट पथ पर एक ही ढंग और गति से चलते रहते हैं लेकिन सफलता सबको नहीं मिलती। कुछ लोग जीवन में सदा असफल

१. चलते-चलते : पृष्ठ ९२

बने रहते हैं। कभी-कभी कालान्तर में अनेक प्रकार की असफलताएँ मिलकर एक बड़ी सफलता का रूप धारण कर लेती हैं। सृष्टि का क्रम-विकास ही कुछ इस ढंग का है कि आगे बढ़ जाने पर पीछे मिली हुई सफलताएँ भी महत्त्वहीन प्रतीत होती हैं। इस प्रकार उथल-पुथल क्रान्ति और युगान्तर सफलता और असफलता के पारस्परिक संघर्ष की एक प्राकृतिक देन होती है। उनके दो रूप और मान भी स्थिर होते-होते अस्थिर होकर परिवर्तित हो जाते हैं।"[1]

वाजपेयी जी की मान्यता है कि सामाजिक और व्यक्तिगत संघर्षों के मार्गों से मनुष्य को गुजरना पड़ता है किन्तु वह कौनसा पथ है, जिसपर मनुष्य चलकर अपना गन्तव्य आसानी से पा सकता है। इस प्रसंग में वाजपेयी जी का मत है कि कभी-कभी राजपथ पर चलकर मनुष्य पीछे रह जाता है और पगडंडी के सहारे अपनी मंजिल पा लेता है। और यही नहीं, कभी-कभी तो महापुरुषों की पगडंडियाँ राजपथ बन जाती हैं, शर्त यह है कि उनपर चलनेवाले ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ हों। बस इसी धारणा से प्रेरित होकर 'राजपथ' की रचना की गयी है। यदि जीवन के संघर्षों का उद्देश्य संसार में अपने अस्तित्व को स्थायी बनाना है तो यह बात निर्विवाद सत्य है कि जीवन में संघर्षों का मूल्य होता है। इसी धारणा की अवतारणा वाजपेयी जी ने 'राजपथ' में की है। लोकमंगल की भावना से प्रेरित होकर जन-जागृति और जन-सेवा की व्यवस्था इस उपन्यास में की गयी है। उपन्यास का प्रमुख पात्र दिलीप स्वयं इन कार्यों में संलग्न है। हृदय-परिवर्तन के विशेष संयोग भी 'राजपथ' में जुटाए गये हैं। इतना ही नहीं—इस प्रसंग में 'राजपथ' के एक पात्र (ज्योतिस्वरूप वर्मा, दादा) के पत्र का एक अंश मात्र देखिए :—

"जो व्यक्ति संकट-काल में अपने मित्र की सहायता नहीं करता, जिसकी सहानुभूति एक शब्द-जाल होती है, जिसकी संवेदना एक बनावटी शिष्टाचार है जो राह चलते हुए दीन-दुखियों की ओर दृष्टि नहीं डालता, उसकी आँखें सही रहते हुए भी फूट जाती हैं। जो दूसरों के दुःख पर रोना नहीं जानता उसकी सहायता करने के लिए जिनका हाथ नहीं बढ़ता, उसका हृदय मनुष्य का हृदय नहीं होता। मैंने पाषाण को फूट-फूटकर रोते देखा है, आप उससे भी हीन हैं! मैंने पशुओं को बिलख-

---

१. राजपथ (अन्तर्नाद) : पृष्ठ २

बिलखकर रोते देखा है, आप उनसे भी गये-गुजरे हैं।"[१]

'राजपथ' ('पतवार') के पश्चात् सन् १९५४ ई० में 'धरती की सांस' नाम का उपन्यास प्रकाशित हुआ। यह कृति आकार-प्रकार में साधारण थी किन्तु कथावस्तु के गठन और शैली-सौन्दर्य के कारण इसका प्रचार और प्रसिद्धि अधिक हुई। कथावस्तु को कोई नया मोड़ नहीं दिया गया है। मध्यवर्गीय जीवन की कहानी है इस उपन्यास में। वस्तुतः वाजपेयी जी एक मसिजीवी कथाकार हैं इसीलिए उन्होंने एक स्थल पर कहा है :—

> "विचारणीय बात है कि जब मैंने उपन्यास-लेखन को व्यसन ही नहीं जीवन का एक आधार बना लिया, तब मेरे लिए यह कहाँ सम्भव था कि लगातार एक ही कृति को माँज-माँजकर घिस-घिसकर सँवारता रहता। जब कि मैंने अनुभव की आँखों से देखा है कि काल की सुनिश्चित और छोटी-सी अवधि में भी बहुत पुष्ट, सप्राण और शक्तिशाली साहित्य की सृष्टि भी बहुधा होती है—हो जाती है। लिखनेवाला होना चाहिए।"[२]

'धरती की सांस' के पश्चात् सन् १९५५ में वाजपेयी जी का प्रसिद्ध उपन्यास 'भूदान' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास के नाम को पढ़कर पाठक आसानी के साथ इसकी अवतारणा के उद्देश्य का पता लगा सकते हैं। इस तथ्य से हिन्दी जगत् भली भांति परिचित है कि पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी आस्था-वादी गाँधी-दर्शन को मान्यता देने वाले कथाकार हैं। ऐसी स्थिति में गाँधीवादी विचारधारा वाला साहित्यकार यदि विनोबा जी के 'मिशन' से प्रभावित होकर अथवा प्रेरणा पाकर साहित्य-सर्जन करे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। 'भूदान' उपन्यास के 'वक्तव्य' में वाजपेयी जी ने आचार्य विनोबा का एक वाक्य उद्धृत किया है—"इस नाव में पानी बड़े जोरों के साथ भर रहा है। अब इस पानी को उलीचो। जितना ही उलीच सकोगे, उतनी ही यह नाव हल्की हो जायगी और मानव प्रलय से बच जायगा।" प्रस्तुत उद्धरण की व्याख्या करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है :—

> "यहाँ मुनिवर विनोबा ने जिस नाव की ओर संकेत किया है, वह समाज की है, राष्ट्र की है और जिस जल को उलीचने के लिए वे कहते हैं, वह है कलुष—हमारे मन, वचन और कर्म का। उलीच-उलीचकर यह नाव निष्कलुष हो जायगी, तो समाज और राष्ट्र का यह जलयान

---

१. राजपथ : पृष्ठ ८१, ८२
२. मेरी लेखन प्रक्रिया : पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी

जलमग्न होने से बच जायगा।"[१]

यही है वह विचारधारा जिसका प्रवाह हमें 'भूदान' में मिलता है। साहित्य के माध्यम से वाजपेयी जी ने विनोबा जी की 'मिशनरी स्प्रिट' को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया है। कुछ समालोचकों ने वाजपेयी जी के कथाकार के ऊपर यह 'चार्ज' लगाया है कि उनकी कृतियाँ युग-बोध से सर्वथा हीन पायी जाती हैं। इस प्रसंग में युग-बोध वाली वाजपेयी जी की अन्य कृतियों का नाम मैं नहीं लेता किन्तु 'भूदान' में युग की वाणी फूटी है। यह वाणी है समस्या की, असमर्थता की, स्नेह की, व्यवहार की, और सब मिलाकर मानव की। 'भूदान' के प्रकाशन के एक वर्ष पहले वाजपेयी जी का उपन्यास 'मनुष्य और देवता' सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ था। इस रचना की आधार-भूमि है—'मानव के अन्दर देवता का भाव छिपा रहता है, और देवता के अन्दर मनुष्य का स्वभाव पाया जाता है'। किन्तु यह सब कुछ परिस्थितिजन्य होता है। कला की दृष्टि से 'मनुष्य और देवता' कृति सामान्य है। चित्रण किया गया है गाँव का। समस्याएँ भी प्रायः वहीं से सम्बंधित हैं। सादा जीवन और उच्च विचार की भावभूमि में 'मनुष्य और देवता' उपन्यास के सुधीर की मनोस्थिति देखिए :—

"हमारे पूर्वज आन्तरिक दृढ़ता के उपासक थे। वे जीवन ही सादा रखते थे, विचार उनके सदा उच्च रहते थे। ऊपर से भले ही वे दुर्बल जान पड़ते हों, पर उनकी हड्डियाँ लौह-स्तम्भ की भांति दृढ़ रहती थीं। अपना सारा आत्म-संयम वे छिपाकर रखते, अपनी सारी साधना केवल कर्म के समय व्यक्त करते और जो शक्तिपुंज उनके जीवन का मुख्य आधार रहता था, उसकी सूचना भी वे तभी इस जगत् को देते थे, जब उसकी आवश्यकता पड़ती थी।"[२]

मोटे तौर पर उपन्यासों को दो कोटियों में रखा जाता है—आदर्शवादी और यथार्थवादी। वाजपेयी जी की कृतियों का झुकाव प्रायः आदर्शवाद की ओर रहता है; किन्तु एक कृति उन्होंने ऐसी दी कि जिसमें छलांग मारकर लेखक यथार्थ से भी आगे निकल गया है। नाम उसका है—'यथार्थ से आगे'। इस उपन्यास का प्रकाशन भी सन् १९५५ में ही हुआ था। उपन्यास की भूमिका ('विचार') में वाजपेयी जी लिखते हैं :—

"विश्व को यदि हम कर्मक्षेत्र मान लें और जीवन को एक संघर्ष

---

१. भूदान : पृष्ठ (ग)

२. मनुष्य और देवता : पृष्ठ २२३

तो हमें यह मानना ही पड़ेगा कि हम सब योद्धा हैं—युद्ध करना ही हमारा कर्म और धर्म है। युद्ध के लिए हम उत्पन्न हुए हैं और युद्ध करते हुए ही इस संसार से हमको सदा के लिए विदा हो जाना है।"[1]

एक बात इसी प्रसंग में और देखिए—

"वास्तव में मनुष्य वह मरता है जो संग्राम से भाग खड़ा होता या हार मानकर रो पड़ता है। जीवन की हार में असफलता यदि यथार्थ है तो आदर्श की ओर हमारी गति, आदर्श की ओर हमारा प्रस्थान, आदर्श की ओर हमारा सर्वस्व उत्सर्ग, यथार्थ का अनुचर नहीं, उसके आगे का वरदान और विजय-चिह्न है।"[2]

इन विचारों के आधार पर यह पता चलता है कि यहाँ भी लेखक आदर्शवाद की वकालत कर रहा है। वह अपने आदर्शवादी निर्मोक के बाहर नहीं आना चाहता है। इतना विश्वास उसे अवश्य है कि हार मानकर उसे रोना नहीं है—फिर डर किस बात का। जीवन के प्रति आस्था, कर्मों के प्रति अटूट विश्वास, शील और विनय के लिए सर्वस्व उत्सर्ग की भावना वाजपेयी जी के लेखक के पोर-पोर में समायी हुई है। और यही बातें यहाँ भी मिलेंगी। बना है तो सीधे-सादे ढंग से कह दिया है अन्यथा घुमा-फिराकर जैसाकि कतिपय अन्य उपन्यासों में हुआ है।

सन् १९५५ ई० में ही वाजपेयी जी का एक और उपन्यास प्रकाशित हुआ—'निर्यातन', जिसका रचना काल सन् १९२९ है। कुछ असंगतियोंवश प्रकाशन शीघ्र नहीं हो पाया था। एक साधारण-सी कथावस्तु के आधार पर इसका तानाबाना तैयार किया गया है। बाद में तो इसका नाम बदलकर 'प्रेम-निर्वाह' कर दिया गया। इसके पश्चात् आया सन् १९५६ (ई०) वाजपेयी जी की दो प्रमुख और बहुचर्चित कृतियों को साथ लेकर। पहली कृति है—'विश्वास का बल' और दूसरी 'सूनी राह'। इन दोनों उपन्यासों से पता चलता है कि वाजपेयी जी का उपन्यासकार अपने प्रशस्त राजपथ पर चलता हुआ भी अब कुछ कावा काटने लगा है। जो विचारक वाजपेयी जी के आदर्शवादी होने के प्रसंग में अपना 'यथार्थवादी' मन्तव्य प्रकट कर चुके हैं उन्हें यहाँ सोचने-विचारने की गुंजाइश है। यथार्थ की विचार-भूमि पर जो चित्रण हुआ है उसका रूप 'विश्वास का बल' के त्रिवेणी, वंदना, रमा, लक्ष्मी, राजीव तथा 'सूनी राह' के

---

१. यथार्थ से आगे : पृष्ठ 'क'
२. यथार्थ से आगे : पृष्ठ 'घ'

निखिल और करुणा जैसे पात्रों में देखा जा सकता है। 'विश्वास का बल' हमें क्या बताता है, इसे लेखक के शब्दों में सुनिए—

> "तो यह उपन्यास प्रकारान्तर से हमें यह बतलाता है कि बड़े से बड़े और ऊँचे मानव-चरित्रों का निर्माण भी किसी मानवी दुर्बलता की पृष्ठभूमि में होता है। उच्च चरित्र उसी मार्मिक घटना की रंगभूमि में जन्म लेता, पनपता, दिनानुदिन विकसित होता, पथ खोजता, और उसका निर्माण करता हुआ सदा अग्रसर होता रहता है।"[१]

यह कृति एकान्ततः यथार्थवादी तो नहीं है किन्तु इसे सर्वथा 'वेजिटेरियन' भी नहीं कहा जा सकता। मानव मन की रुचियों, दुर्बलताओं और प्रेरणाओं के आधार पर चलता अवश्य है, पर चलता हुआ उसके जीवन का रथ किन-किन वीथियों और राजमार्गों से होता हुआ आगे बढ़ता रहता है?—बस यही पृष्ठभूमि है जिसके आधार पर इस उपन्यास की अवतारणा हुई है। हाँ, चरित्रों की बहुरूपता यहाँ देखने को मिलेगी जिससे जीवन की विविधता का दर्शन सहज ही हो जायगा। यही बात 'सूनी राह' के सम्बंध में भी कही जा सकती है। आकार की दृष्टि से तो उपन्यास छोटा है किन्तु विषय-वस्तु और तकनीक की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनुभूतियों की गहराई में पायी जानेवाली सीप के समान यह कृति है जिसमें विचारों के मोती हैं। वाजपेयी जी की लेखनी की एक आदत है कि वह सभी पात्रों के जीवन को एक न एक ढर्रा सुझा देती है; किन्तु 'सूनी राह' कृति के 'निखिल' के प्रति वह निर्मम है। जहाँ एक ओर निखिल की राह सूनी हो गयी वहाँ दूसरी ओर वाजपेयी जी के पाठकों की सहानुभूति 'निखिल' के साथ हो गयी है। यह भी किसी उपन्यासकार के लिए कम महत्त्व की बात नहीं है कि कृति का नाम विस्मृत हो जाय और पात्र का नाम याद रहे।

सन् १९५९ ई० में 'गोमती के तट पर' नामक कृति का प्रकाशन हुआ। इस उपन्यास में दो विरोधी चरित्रों का चित्रण हुआ है। वसंत और राकेश के स्वभाव का अन्तर—और उसका चित्रण यह सिद्ध कर देता है कि एक ही वंश-परम्परा के अन्तर्गत जन्म लेने वाले दो प्राणी अपने में कितना अन्तर लिए रहते हैं। वसंत को कवि का स्वभाव मिला है। वह भावों की दुनिया में विचरण करने वाला जीव है जब कि राकेश अपनी परिस्थितियों के अन्तराल से सामाजिक चित्रों का आकलन करने वाला व्यक्तित्व है। हाँ,

---

१. विश्वास का बल : पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, मन्तव्य, पृष्ठ 'ख'

कला और कैलाश बाबू का चित्रण समझौते के आधार पर हुआ प्रतीत होता है। पिता और पुत्री के सम्बंध-निर्वाह की दृष्टि से वह भी उत्कृष्ट बन पड़ा है। राकेश और कला के सम्बंध आगे चलकर गहरे हो जाते हैं। उपन्यास का अन्त दुःखान्त है। वसंत गोमती में डूब जाता है। मल्लाह उसके शव को निकालते हैं। दाह संस्कार होता है। राकेश कैलाश, बाबू और मौलश्री आदि शोक-विह्वल हैं। राकेश को कुछ अप्रत्याशित संभावनाएँ मिलती हैं जिसके फलस्वरूप वह सोचता है :—

> "नहीं, प्रत्यक्ष से परे मनुष्य का एक ऐसा भी लोक है जहाँ पाप का मुख पुण्य के कानों से लगा रहता है। उस समय पुण्य की भंगिमा पर पाप के प्रति न तो कोई वितृष्णा का भाव रहता है—न उपालंभ का। चित्र एक ही रहता है, पार्श्व दो। भला से भला व्यक्ति भी कहीं न कहीं से क्षुद्र और हीन होता है—जैसे मैं। और ऊपर से हीन और पतित दिखायी देने वाला व्यक्ति भी कहीं न कहीं से महान और वन्दनीय—जैसे भैया।"[१]

बस यही विचार वह आधार है जिसका सहारा लेकर 'गोमती के तट पर' उपन्यास की रचना हुई है। वस्तुतः मनुष्य के अन्दर एक और मनुष्य है जो बाहर दृष्टिगोचर होने वाले मनुष्य से सर्वथा भिन्न होता है।

इसके पश्चात् सन् १९५९ में ही 'रात और प्रभात'[२] नामक कृति का प्रकाशन हुआ। इस कृति का उद्देश्य हृदय-परिवर्तन है। समाज के प्रति धोखा और प्रवंचना से काम लेने वाला रामप्रसाद कारागार की यातना भोगता है और अंत में बड़े भैया के सामने प्रायश्चित करता है। वह सोचता है—"क्या पापात्मा की मुक्ति बुद्धि से ही हो सकती है? प्रेम से नहीं हो सकती? भावना से नहीं हो सकती? तब एक विचार आया—हो सकती है।" जिस बात पर दो सम्बंधियों में अन्तर आ गया था उसके प्रति रामप्रसाद के पश्चात्ताप प्रकट करने पर दोनों में फिर प्रेम हो जाता है। बड़े भैया का चरित्र आदर्शवादी है जब कि रामप्रसाद का चित्रण यथार्थवादी भूमि पर हुआ है। इस उपन्यास में वाजपेयी जी ने मानव की सभ्यता देखने का प्रयास किया है। जीवन में सत्य की प्रबलता और मानवता की रक्षा में मानव के त्याग का मूल्यांकन किया गया है। "क्या

---

१. गोमती के तट पर : पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ ३२३

२. यह कृति अपने बाल-रूप (Pocket book) में भी प्रकाशित हुई है, जिसमें प्रकाशन का वर्ष नहीं दिया गया है।

स्वार्थ-साधन में रत मनुष्य ईमानदार भी हो सकता है ?"—इस बात का दिग्दर्शन कराते हुए वाजपेयी जी ने चरित्र-सम्बन्धी अतिशय स्वेच्छाचार को जीवन का ह्रास कहा है। सन् १९६० ई० में वाजपेयी जी के तीन उपन्यास प्रकाशित हुए— 'उनसे न कहना', 'दरार और धुआँ' तथा 'सपना बिक गया'। 'उनसे न कहना' कृति सामाजिक आधार लिए हुए है। चित्रण मनोवैज्ञानिक हैं। समस्याएँ वही सामान्य रूप से जानी पहचानी। 'दरार और धुआँ' में जो सामाजिक चित्रण हुआ है उसमें यथार्थ और आदर्श का मिश्रण पाया जाता है। और यह विशेषता तो वाजपेयी जी की सभी कृतियों की है। यथार्थ के लोक में विचरण करता हुआ मनुष्य अपने आदर्श को पा जाय—उपन्यासकार का यही उद्देश्य है। 'सपना बिक गया' की शैली सर्वथा नयी है। बिहारी, राका, दुष्यन्त आदि की चिन्ता-धाराओं का विवेचन इस उपन्यास में किया गया है। इसकी अवतारणा का उद्देश्य समझने के लिए कुछ सन्दर्भ दृष्टव्य हैं :—

> "पग-पग पर ये आदेश, अधिनियम और अनुबंध, हमारे मार्ग में जो निरोध और वर्जनाएँ पैदा करते हैं, जब तक हम इनका पालन करने, मानने और निभाने को विवश बने रहते हैं, तभी तक इनकी स्थिति हमारे लिए एक विभीषिका बनी रहती है। किन्तु जब हम इनका सामना करने के लिए तत्पर और सन्नद्ध हो उठते हैं तब इनके भय से भी मुक्त हो जाते हैं।"[1]
>
> "जीवन के अनेक व्यापार कुछ ऐसे भी होते हैं जिनपर हमें अपना निर्णय तत्काल देना पड़ता है; हम चौराहे पर जा खड़े होते हैं, जहाँ न पथ का ज्ञान रहता है, न दिशा का, विविध परिस्थितियों और प्रश्नों, पदार्थों और संभावनाओं में किसी एक को चुनना ही पड़ता है। न विचार करने का समय मिलता है, न अनुसंधान करने का। जरा सोचिए मनुष्य कितना असहाय और असंपृक्त है!"[2]
>
> "जिस देश के गाँवों की साधारण जनता अब तक अशिक्षित हो, जहाँ वह जमींदारी के युग में गुलामी का जीवन व्यतीत करती रही हो, जहाँ पुलिस कर्मचारी और अधिकारी देश-भक्ति के नाम पर शून्य हों, खानापूरी करते हुए केवल रुपया लूटना जिनका एकमात्र धंधा हो, उस देश में गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली को सफल होने में अभी बहुत दिन

---

१. सपना बिक गया : भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ ५६

२. सपना बिक गया : भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ ७७

लगेंगे।"[१]

जो विचारक उपन्यास की रचना को गणित की रचनाओं के रूप में देखते हैं उन्हें 'सपना बिक गया' की विषयवस्तु पर चाहे परेशानी न हो, किन्तु उसकी शैली उन्हें अवश्य अनोखी लगेगी।

सन् १९६१ और १९६२ में 'एक प्रश्न', 'टूटा टी सेट' तथा 'दूखन लागे नैन' नामक उपन्यास प्रकाश में आये। जिनके पात्रों का चयन मध्यमवर्गीय समाज से हुआ है। जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ी है वहाँ अन्य वर्गों के पात्र भी लाये गये हैं। इन तीनों उपन्यासों में 'टूटा टी सेट' पाठक के मन को अधिक आकर्षित करता है। यद्यपि आकार की दृष्टि से यह कृति छोटी है—केवल २०० पृष्ठों की; किन्तु जिन मार्मिक अनुभूतियों के चित्रों की सर्जना हुई है वे अपने में अनोखापन लिए हैं। एकाध स्थल इस सन्दर्भ में देखिए :—

"अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए हम बहुधा कमजोर नसों पर ऐसे नश्तर लगा बैठते हैं, जिनका प्रयोग तो दूसरों पर होता है, लेकिन उनकी पीड़ा का अनुभव अन्ततः हमीं को करना पड़ता है।"[२]

'टूटा टी सेट' की प्रमुख स्त्री पात्र नीलकमल के विचारों का मूल्यांकन कीजिए :—

"कोई वस्तु हो या व्यक्ति उसके सम्बन्ध में यह सोचना ठीक नहीं कि वह अच्छा ही अच्छा है। बहुतेरी वस्तुएँ ऊपर से देखने में बड़ी सुंदर और प्यारी जान पड़ती हैं। न वे एकदम से अच्छी हैं न बुरी। प्रत्येक के साथ अपना एक दृष्टिकोण होता है, जिसके अनुसार वे अच्छी या बुरी प्रतीत होती हैं।"[३]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इस सामाजिक कृति में प्रवृत्तियों का चित्रण मार्मिक ढंग से उपस्थित किया गया है। एक प्रश्न की कथावस्तु साधारण है। चित्रण भी पाठक के हृदय पर अमिट छाप नहीं छोड़ता। वाजपेयी जी की कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जो या तो जल्दी-जल्दी में लिखी गयी हैं या फिर उनकी किसी आवश्यकता ने उन्हें मजबूर करके लिखवाया है। अपनी इस मजबूरी को वे स्वीकारते भी हैं।[४] 'दूखन लागे नैन' कृति महत्त्वपूर्ण है। इसमें सहानुभूति की

---

१. सपना बिक गया : भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ ११२
२. टूटा टी सेट : भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ १२३
३. टूटा टी सेट : भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ ४०
४. 'मेरी लेखन प्रक्रिया'—निबंध

सक्रियता, संभव-असंभव कल्पनाओं का चित्रण, जीवन के टेढ़े-मेढ़े मार्ग की कहानी, घटनाओं की नाटकीयता, मर्यादा के विविध रूप तथा जीवन की जिम्मेदारी का चित्रण अनेक रूपों में मिलता है।

सन् १९६२ में ही वाजपेयी जी ने एक और उपन्यास लिख डाला—'चन्दन और पानी'। अपनी रचना के सम्बन्ध में लेखक की निजी मान्यता इस प्रकार है :—

> "स्वतंत्रता के बाद इन पन्द्रह वर्षों में जहाँ हमने अपने ग्रामों पर अधिकाधिक ध्यान देने की चेष्टा की है वहीं उनके व्यामोहों की उपेक्षा भी कम नहीं की। पुरातन परम्पराओं, रूढ़ियों और सामन्तवादी वृत्तियों की ओर हमारा कितना ध्यान गया है? आज के नागरिक वातावरण में शिक्षित तरुण, भले ही उसके बचपन के संस्कार ग्राम्य रहे हों, केवल अपनी सुधारवादी भावनाओंके सहारे इन कुरीतियों और दुर्नीतियों से कहाँ तक लोहा ले सकता है? मैंने अनुभव किया है कि केवल उच्चभावनाओं की आधार-भूमि इसमें समधिक समर्थ नहीं है। साथ ही आज का जागरूक ग्रामीण वैभव और विलासिता की गोद में बैठकर पढ़े-लिखे बाबू लोगों की निरी आदर्शवादी बातों को बिना किन्तु-परन्तु के स्वीकार कर लेने को कदापि प्रस्तुत नहीं है।"[१]

इस मान्यता के साथ-साथ चरित्रों के गुणों का कलात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि जहाँ एक ओर घटनाएँ चरित्रों पर प्रभाव डालती हैं वहीं दूसरी ओर चरित्र भी घटनाओं को अपनी गति के अनुसार मोड़ने का प्रयास करता है।

वाजपेयी जी का बहुचर्चित उपन्यास 'टूटते बन्धन' सन् १९६३ में प्रकाशित हुआ। सम्भवतः इसी वर्ष कपट-निद्रा' नामक उपन्यास का भी प्रकाशन हुआ। टूटते बन्धन का नाम 'अभिसंधि' था किन्तु बाद में बदल दिया गया। प्रथम संस्करण की जो प्रति मेरे पास है उसमें मुखपृष्ठ पर 'टूटते बन्धन' अंकित है किन्तु पुस्तक के अंदर 'अभिसंधि' नाम भी छपा है। आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के आधार पर अपने समाज को जितना लाभ पहुँचा है उससे हमें संतोष अवश्य है; किन्तु जो हानि हुई है उससे असंतोष भी कम नहीं है। नयी शिक्षा और नयी सभ्यता ने भारतीय ललना को कहाँ पथभ्रष्ट किया है और कहाँ वह मजबूर हुई है—इस बात का सांगोपांग विवेचन इस पुस्तक में पाया जाता है। और हम तो यह

---

१. चन्दन और पानी : भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ 'ग'

कहेंगे कि कालेज और विश्वविद्यालय में पढ़ने वाली प्रत्येक भारतीय छात्रा को 'टूटते बन्धन' उपन्यास पढ़ना चाहिए। वाजपेयी जी की यह कृति ऐसी है जो हमें एक मार्ग बताती है। और ऐसा मार्ग बताती है जो हमारे जीवन को प्राणवान बनाता है।

सन् १९६३ से ६५ तक 'कपट निद्रा', 'राजपथ' और 'अधिकार का प्रश्न' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए। 'कपट निद्रा' है भारतीय हिन्दू परिवार की कहानी जिसमें मनोविश्लेषण की शैली प्रधान है। यौन भावनाओं के तरंगाघातों के विविध रूप भी यहाँ मिलेंगे जो स्वाभाविकता की दृष्टि से बेजोड़ हैं। 'राजपथ' के सम्बन्ध में यह बात पीछे कही जा चुकी है कि यह कृति 'पतवार' नाम से पहले प्रकाशित हो चुकी थी। उपन्यास के प्रारम्भ में लेखक ने अपना निष्कर्ष दिया है—' बहुतेरे राजपथ कभी अस्तित्व में ही न आते, यदि उनके पीछे पगडंडियों के रूप में महापुरुषों और क्रान्तिकारियों के पदचिह्न न होते।" इसी विचारधारा पर 'राजपथ' आधारित है। कार्ल मार्क्स, एंजिल्स तथा गाँधी पैदा कहाँ हुए और प्रभाव कहाँ डाला ? वाजपेयी जी के विचार से पगडंडियाँ कभी-कभी राजपथ बन जाती हैं। देखिए, राजपथ का दिलीप क्या कहता है—"मैं व्यक्तिगत सुख भोगने के लिए नहीं उत्पन्न हुआ हूँ। मैं अपने हितों को परिवार मात्र तक सीमित रखने वाले व्यक्तियों में नहीं हूँ। मैं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को समाज के लिए सर्वथा भयावह मानता हूँ।"[1] इस कृति को सामाजिक चित्रण की दृष्टि से और सुधारवादी आस्था के आधार पर उत्कृष्ट और आकर्षक कहा जा सकता है। इससे हमारी आँखें खुलती हैं। आज का भौतिकवादी वातावरण हमें उड़ना सिखा देता है, जल में तैरना सिखा देता है किन्तु धरती पर चलना नहीं सिखाता। और हम उड़ते और तैरते हुए उसे भूल भी जाते हैं। बस इसी ओर 'राजपथ' का संकेत है। सहानुभूति, प्रेम, करुणा, सामाजिकता की भावना का आधार लेकर यह उपन्यास लिखा गया है।

'अधिकार का प्रश्न' आकार की दृष्टि से छोटा और प्रकार की दृष्टि से व्यक्तिवादी सामाजिक उपन्यास है। उपन्यासकार के शब्दों में यह "कर्त्तव्य और अधिकार के द्वन्द्व की एक मर्मस्पर्शी कथा है जिसमें मानवता की नवरचना की एक पावन संयोजना है।"[2] यह बात इस कृति में स्पष्ट कह दी गयी है कि पुरानी मान्यताओं का नया खून दम तोड़ चुका है। यहाँ तक कि 'अधिकार का

---

१. राजपथ : वाजपेयी जी, पृष्ठ ३४
२. अधिकार का प्रश्न : वाजपेयी जी

प्रश्न' उपन्यास का एक पात्र (उपेन्द्र) कहता है—"वयोवृद्ध के साथ रहने से स्वतंत्रता बौनी हो जाती है।"[१] और इतना ही नहीं—"अपने अधिकारों की स्थापना के लिए मैं शान्ति की भी परवाह न करूँगा।"[२] इतना होते हुए भी दूसरी ओर सुनाई पड़ता है—"आस्थावादी का कलेजा पचास हाथ का होता है।"[३] वस्तुतः यह कृति नये-पुराने का द्वन्द्व है। शिल्प की दृष्टि से भी इसमें नयापन है—जिस पर आगे विचार किया जायगा।

जिन आधारों और विचार-सरणियों का सहारा लेकर वाजपेयी जी के उपन्यासकार ने लेखनी उठायी है उनपर हम विचार कर चुके। साथ ही इस निष्कर्ष का पता अपने-आप लग गया कि व्यक्ति, उसकी समस्याएँ, समाज, उसकी समस्याएँ तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं से प्रभावित भारतीय समाज वाजपेयी जी के विषय हैं। इन्हीं आधारों को लेकर उनके उपन्यासों की अवतारणा हुई है।

---

१. अधिकार का प्रश्न : वाजपेयी जी, पृष्ठ ५४
२. अधिकार का प्रश्न : वाजपेयी जी, पृष्ठ ५५
३. अधिकार का प्रश्न : वाजपेयी जी, पृष्ठ ५६

३

# वस्तु-संयोजन

पहले कथावस्तु का संयोजन किया जाता है या चरित्र का—यह प्रश्न अपने में है तो बहुत सीधा-सादा; किन्तु इसके उत्तर के लिए उत्तर देने वाला सोचने लगता है कि क्या कथावस्तु और चरित्र की रचना में सचमुच 'पहले' और 'पश्चात्' का प्रश्न है। वस्तुतः कथावस्तु और चरित्र परस्पर ऐसे अन्योन्याश्रित हैं कि दोनों को एक-दूसरे से पृथक् करना असम्भव है। हेनरी जेम्स महोदय का तो कहना है कि चरित्रों के कार्य ही हमारे सम्मुख कथावस्तु के रूप में आते हैं। वाजपेयी जी ने अपनी लेखन प्रक्रिया के सम्बंध में विचार करते हुए लिखा है :—

"सड़क हो कि प्लेटफार्म, प्रदर्शिनी का प्रांगण हो या नवीन से नवीन मार्केट। चलते-चलते सामने आ पड़ने वाला व्यक्ति मेरा पात्र बन सकता है। यदि उसकी भाव-भंगिमा में असाधारण आकर्षण है। चलने के ढंग और वार्तालाप की शैली में नवीनता ही नहीं विचित्रता भी हो। ऐसे अवसरों पर कभी-कभी यह भी बात मेरे मन में आयी है कि लिखने के लिए विषय की कमी नहीं है।"

सन् १९२२ ई० से लेकर आज तक वाजपेयी जी ने जितना लेखन कार्य किया है उसे देखकर तो यही प्रतीत होता है कि वे युगानुरूप वस्तु संचयन करते रहे हैं। यहाँ मेरा मन्तव्य यह कहने का नहीं है कि उन्होंने पहले चरित्र सँवारा या कथावस्तु। इस प्रसंग में तो कथावस्तु पर ही विचार किया जायगा। वाजपेयी जी के कतिपय उपन्यासों के चरित्र ऐसे हैं जिनका आकर्षक जीवनक्रम ही कथावस्तु बनता गया है।

एक ब्रिटिश विद्वान ने उपन्यास लिखने वाले नौसिखिए लोगों को कथावस्तु-संयोजन के लिए एक सलाह दी है। उनका कहना है कि पहले पूरी कथावस्तु के मुख्य-मुख्य स्थल नोट कर लेने चाहिए। फिर उन्हीं को बढ़ा लेना चाहिए। इसी प्रक्रिया के आधार पर अध्यायों का बँटवारा भी हो जायगा। इस बात के साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि यह ढंग वहीं संभव है जहाँ चरित्र पर बल न देकर घटना पर बल दिया जायगा। वाजपेयी जी के प्रारंभिक उपन्यासों में

चरित्र और घटना का महत्त्व एक-सा है। किंतु अब वे चरित्र पर विशेष बल देने लगे हैं। कभी-कभी अपनी विशेषताओं के आधार पर घटना महत्त्वपूर्ण हो जाती है और कभी चरित्र बाजी मार ले जाता है।

आर्चीबैल्ड मार्शल नामक विद्वान ने कथावस्तु पर विचार करते हुए लिखा है कि लेखक में यदि 'कहानी कहने' की योग्यता है तो वह कथावस्तु का निर्वाह भली प्रकार कर लेगा। उसकी लेखनी कहीं भी विचरण कर सकती है। उसके लिए कथावस्तु का मिलना बड़ा आसान है। वस्तुतः कहानी कहने की कला वाजपेयी जी की अपनी है। उसका निरालापन देखते बनता है। अंग्रेजी विचारक ई० ए० फारेस्टर ने कहानी और कथावस्तु (Story and Plot) का अन्तर समझाते हुए लिखा है कि "राजा मर गया और रानी भी मर गयी" कहानी है। तथा "राजा मर गया, जिसकी वेदना में रानी भी मर गयी" कथावस्तु है। रानी का मरना और राजा का मृत्यु की वेदना से पीड़ित होकर मरना कथावस्तु की विशेषता और रहस्य है। फारेस्टर महोदय आगे कहते हैं कि यदि यही बात हम कहानी में पढ़ते हैं तो कहते हैं—'और तब' (And then ?); और यदि कथावस्तु में पढ़ते हैं तो प्रश्न करते हैं—'क्यों' (Why ?)। यही दोनों का अन्तर है।

उपन्यास की रचना में कथावस्तु का स्थान प्रमुख है। इसके संयोजन में लेखक स्वतंत्र है। वह चाहे तो पहले से अपनी योजना निर्धारित कर ले या पात्रों का चित्रण करता चले—वहीं कथावस्तु बन जायगी। वाजपेयी जी का 'सपना बिक गया' उपन्यास बहुत कुछ-इसी शैली में है। दुष्यंत, राका तथा बिहारी आदि की चिंताधाराएँ उपन्यास का तानाबाना बनाती गयी हैं। इसी प्रसंग में एक बात और। कथावस्तु के संबंध में इंगलैण्ड और अमेरिका के विचारक अपने पृथक् मत रखते हैं। थियोडोर ड्रेजर नाम के अमरीकी विचारक ने लिखा है—"In all great novels the plot is negligible. In fact, where there is no plot there is apt to be literary merit." बात यहीं नहीं समाप्त होती है। इन्होंने आगे कहा है कि 'प्लाट' की सुन्दरता और बनावट के चक्कर में पड़ कर लेखक अपने चरित्रों के साथ सही न्याय नहीं कर पाता है। आर्चीबैल्ड मार्शल नामक अंग्रेजी विद्वान ने लिखा है कि—"What is commonly called plot is only the machine-made part of the story.........It counts very much, however, in the writing of a novel and it is quite essential for a novelist to have it to

work to." इन मतों के परिप्रेक्ष्य में हम पीछे कह आये हैं कि वाजपेयी जी ने ऐसे उपन्यासों का भी सृजन किया है जिनमें पात्र ही कथावस्तु बनाते चलते हैं। और साथ ही ऐसी कृतियाँ भी हैं जहाँ कथावस्तु के माध्यम से चरित्रों का विकास होता गया है। घटनाओं का प्रभाव चरित्र पर कैसे पड़ता है? इसका पता लगाने के लिए हम यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'गोमती के तट पर' नामक उपन्यास में एक प्रमुख पात्र है—राकेश। साधारण परिवार का है। उसका बड़ा भाई वसंत कवि है। राकेश ने फर्स्ट डिवीजन में एम० ए० किया है। पीएच० डी० भी कर डाली है। शिक्षा विभाग के अधिकारी (कैलाश बाबू) की लड़की कला से उसका परिचय होता है। कला राकेश को चाहने लगती है। कला की माता और पिता का भी रुख यही है। कला की जीवन-प्रक्रिया सुविधाओं में सम्पन्न हो रही है। अब अवसर है कि राकेश कला के प्रेम में दीवाना होकर घूमे। किन्तु नहीं। रिक्शे वाला चोट खाता है। राकेश उसे बलरामपुरहॉस्पिटल में भर्ती कराता है। इसी कारण निश्चित समय पर कला के यहाँ जाने में उसे देर हो जाती है। अब इस घटना का प्रभाव कला के चरित्र पर ऐसा पड़ता है कि वह अपने पड़ोसी की कार माँग कर हॉस्पिटल पहुँच जाती है। सचमुच बड़ा रिस्क लिया उसने। यही नहीं, राकेश के जीवन में जैसे-जैसे अप्रत्याशित घटनाएँ घटती जाती हैं वैसे-वैसे कला का ढर्रा बदलता जाता है। इसी प्रकार की तमाम घटनाएँ ऐसी हैं जो पात्रों को अपने चारों ओर चक्कर कटाती हैं। और बहुतेरे पात्र ऐसे हैं जो घटनाओं के 'आगे नहीं झुकते, नहीं झुकते। राजपथ' का दिलीप भी इसी श्रेणी में आता है।

भारतीय जन-जीवन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) नगर का जीवन, (२) गाँवों का जीवन। वाजपेयी जी के उपन्यासों में दोनों के चित्रण पाये जाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उनकी अधिकांश कथावस्तु गाँवों की नहीं अपितु नगरों से सम्बंधित है। यद्यपि वाजपेयी जी गाँव से अधिक परिचित इसलिए हैं क्योंकि जन्म, लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा सभी कुछ का प्रारम्भ गाँव से हुआ है; किन्तु उनका अधिकांश समय नगरों में बीता है। उनका कोई भी उपन्यास ऐसा नहीं है जिसे पूर्णरूपेण ग्रामीण चित्रण वाला कहा जा सके। मुंशी प्रेमचन्द के पश्चात् उस परम्परा में आगे बढ़ने वाले उपन्यासकारों में वाजपेयी जी से हिन्दी उपन्यास साहित्य को बड़ी आशा थी, किन्तु वह फलीभूत न हो सकी। इस प्रसंग में वाजपेयी जी का दावा है कि जैसी जिन्दगी जीता हूँ वैसी लिखता हूँ। मेरे विचार से यदि उपन्यासकार वही चित्रण करे जो वह जिये तो यह बात लोकमंगल की दृष्टि से विश्वजनीन नहीं हो सकती। उपन्यासकार तो

चितेरा है उन कोटि-कोटि विभिन्न वर्गीय प्राणियों का जो उसके परितः पाये जाते हैं। इस प्रसंग में यदि उसका भी जीवन स्वतः चित्रित हो उठे तो कहना ही क्या। टूटा टी सेट, सपना बिक गया, विश्वास का बल, सूनी राह, टूटते बंधन, उनसे न कहना, चलते-चलते, भूदान, राजपथ आदि बीसियों उपन्यास ऐसे हैं जिनमें नगर के जीवन का चित्रण किया गया है। इस सम्बंध में एक बार वाजपेयी जी से बात करने का अवसर मुझे मिला था। उन्होंने 'भूदान' की ओर संकेत करते हुए कहा था कि उसमें गाँव के जीवन का वर्णन है। 'भूदान' पढ़ने से यह पता चलता है कि उसमें भी गाँव के चित्रण के साथ-साथ नगर का भी चित्रण है।

इस संकेत का यह तात्पर्य नहीं है कि मैं वाजपेयी जी की लेखनी पर चार्ज लगा रहा हूँ। मन माने की बात है। जो उन्हें रुचा उसे चुन लिया। कथावस्तु का ढांचा बन गया। पात्र बोलने लगे। उपन्यास का रथ आगे बढ़ चला। यहाँ एक बात पर विचार कर लेना समीचीन होगा कि वाजपेयी जी के प्रमुख उपन्यासों की कथावस्तु के पीछे लेखक की कौनसी भावना काम करती रही है। किन उद्देश्यों से प्रेरित होकर उसे ऐसे कथानक गढ़ने पड़े। 'गुप्तधन' की कथावस्तु 'सत्य' का आधार लेकर रची गयी है। जीवन में सत्य की महत्ता स्वीकारने के लिए ऐसा किया गया है। मध्यवर्ग का जीवन ही कथावस्तु में उभरकर आता है।

'पतिता की साधना' का कथानक भी मध्यवर्गीय है। नन्दा, हरिनाम (सूरदास) आदि पात्र इसी वर्ग के हैं। इसी प्रकार उच्च और मध्यम वर्ग की मिली-जुली कथावस्तु 'चलते-चलते' उपन्यास की है। 'विश्वास का बल' नामक उपन्यास का प्रारम्भ ही ऐसा है जिससे यह पता चलता है कि त्रिवेणी और राधेमोहन दोनों सामान्य स्तर के जीव नहीं हैं। कानूनी दुनिया की बातों से इस कथानक का प्रारम्भ होता है और अन्त होता है पारिवारिक और सामाजिक सम्मिलन में। इस उपन्यास की कतिपय आनुषंगिक कथाएँ ऐसी हैं जो पात्रों की गति को मोड़ती हैं। वाजपेयी जी तो कहते हैं—'प्रत्येक घटना वस्तुस्थिति का एक इतिहास लेकर आती है।"[1] यह और बात है कि कालान्तर में उसका प्रभाव मन से हट जाय। 'विश्वास का बल' उपन्यास की कथावस्तु में एक घटना है : रमा की भाभी ने अपनी ननद से कह दिया कि दोनों बहिनें आवश्यक बातें कर रही हैं। इतना ही नहीं, अन्दर से किवाड़ भी बन्द कर लिये गये। इस आशंका से कि कोई अनिष्ट न हो जाय इसलिए जाकर देखना स्वाभाविक था। मुरारी की मामी ने कहा—समझ में नहीं आता किवाड़ क्यों बंद है। मुरारी ने दीदी! दीदी! की रट

---

१. विश्वास का बल : पृष्ठ १३७ (विद्यार्थी संस्करण)

लगायी। किवाड़ भड़भड़ाया। अचानक सिटकिनी नीचे गिरी। किवाड़ खुला। वहाँ का दृश्य विस्मयकारी था। वाजपेयी जी लिखते हैं :—

"रमा का सिर लक्ष्मी की गोद में था। वह औंधे मुँह उसके ऊपर लेटी हुई थी। उसका दायाँ हाथ लक्ष्मी की पीठ के उस पार होता हुआ पलँग के शिरोभाग से अटक गया था और एक पैर पाटी के इस पार लटक रह था। उसने वही साड़ी पहन रखी थी जो त्रिवेणी उसके लिए ले आया था। दोनों की आँखें बन्द थीं पर सांस साधारण गति से चल रही थी।"[1]

विष पीने की चेष्टा में उसके प्रभाव की मूर्च्छा का परिणाम था यह। रमा अपनी परिस्थितियों से ऊब चुकी थी। इसीलिए उसने विष लेने का निश्चय किया। किन्तु इस घटना ने समस्त पात्रों को अचंभित कर दिया; साथ ही पाठक भी इस प्रसंग को पढ़ते समय सजग हो गया। 'विश्वास का बल' के पाठक त्रिवेणी से परिचित होंगे। वे इस घटना के घटने पर मन ही मन कह रहे थे—"तमाशे दुनिया के कम न होंगे, सितम यही है कि हम न होंगे।" वाजपेयी जी की कथावस्तु में इस प्रकार की रोमांचकारी और कुतूहल उत्पन्न करने वाली घटनाएँ प्राय: सभी उपन्यासों में पायी जाती हैं। उन्हें घटनाओं का खेल खेलना खूब आता है। अप्रत्याशित रूप से अचानक घटनाएँ घट जाती हैं। पाठक को उन घटनाओं का पूर्वाभास नहीं मिल पाता है।

इस युग का उपन्यास-पाठक यह जानता है कि उपन्यासों के पात्रों पर सिनेमा का प्रभाव सर्वत्र नहीं तो प्राय: दृष्टिगोचर होता है। उपन्यासकार का विश्वास बनता जा रहा है कि यदि मेरे पात्र सिनेमा के पात्रों जैसे सजीव न हुए तो सारी कला मटियामेट हो जायगी। कौन चाहेगा इन पात्रों को? इस बात को ध्यान में रखकर वही सिनेमा जगत् की उछल-कूद, हल्कापन और भँड़ैती अपने उपन्यासों में लाने का प्रयास करता है। आजकल तो दशा यह है कि आप सिनेमा देखने बैठें तो पाँच मिनट बाद चित्रित होने वाली घटना का अनुमान लगा लेंगे। रचनाकार पीछे हो गया। दर्शक या पाठक आगे चला जा रहा है। पर्दे पर तीव्र गति से मोटरसाइकिल या कार दौड़ रही हो तो जान लीजिए अभी-अभी कोई दुर्घटना होने वाली है। कहना न होगा कि वाजपेयी जी के उपन्यास की कथावस्तु के संयोजन में यह लचरपन नहीं पाया जाता। वे तो अपने पाठक को चैलेंज देकर डुबकी लगाते हैं और दिखाई पड़ते हैं बहुत दूर। जहाँ तक

---

१. विश्वास का बल : पृष्ठ १३८

पहुँचते-पहुँचते वे फिर कावा काट जाते हैं। उनकी यह कला 'विश्वास का बल', 'सूनी राह', 'टूटते बंधन', 'राजपथ', 'टूटा टी सेट' और 'अधिकार का प्रश्न' आदि उपन्यासों में स्पष्ट दिखायी देती है।

वाजपेयी जी के अधिकांश कथानक अपने अन्तराल में केवल एक पीढ़ी का वर्णन लिये हैं। यह बात हिन्दी के अन्य उपन्यासकारों में भी मिलती है। 'विश्वास का बल' उपन्यास में सारी कथावस्तु त्रिवेणी और रमा के जीवन से सम्बंधित है। वैसे अन्य पात्र भी अपना अलग-अलग महत्त्व रखते हैं किन्तु ये दोनों पात्र उपन्यास के प्रारम्भ और अन्त में आते हैं। इसी प्रकार 'सूनी राह' में करुणा और निखिल की कहानी प्रारम्भ से अन्त तक चलती है। दुष्यंत, बिहारी और राका की कथा है 'सपना बिक गया' में। 'टूटते बंधन' में सारी कथा मुरली के जीवन से सम्बंधित है। 'टूटा टी सेट' तथा 'दूखन लागे नैन' में क्रमशः नीलकमल और प्रभाकर एवं वीणा के जीवन की कहानी है। इधर वाजपेयी जी का एक नया उपन्यास आया है—'अधिकार का प्रश्न'। इस उपन्यास में केवल एक ही जीवन का समय नहीं बिताया गया। उपन्यासकार अपनी निश्चित मर्यादा के आगे भी बढ़ा है। वैसे तो प्रायः कथानकों का प्रारम्भ युवावस्था के वर्णन से ही हुआ है; किन्तु उपन्यासकार की यह कोई निर्धारित सीमा नहीं रही है।

अब देखना यह है कि वाजपेयी जी के वस्तु-संयोजन में अतिरंजना और कल्पना अधिक रही है या अनुभूति। वस्तुतः अतिरंजना पर आधारित कथावस्तु की पटरी पर चलने वाली उपन्यास की गाड़ी युग के अनुरूप नहीं चल पाती है। यहाँ भी लेखक की रुचि का प्रश्न सामने आ जाता है। यदि कोई महिला उपन्यास लेखिका अपने उपन्यास में ऐसे पुरुष का चित्रण करना चाहती है जिसको काया तो पुरुष की मिली है किन्तु उसका स्वभाव और कार्य स्त्रियोचित है तो उसे अपनी कथावस्तु का संयोजन उसी प्रकार से करना पड़ेगा। यदि अनुभूति की चित्रपटी पर चित्र उरेहे गये तो आकर्षक होंगे अन्यथा सामान्य होंगे। जेन आस्टिन ने तो ढूंढ़-ढूंढ़ कर ऐसे पुरुषों के वर्णन किये हैं जो स्त्रियों के बीच बैठकर बात करते हुए पाये गये हैं। वाजपेयी जी की कथावस्तु में अनुभूति का योगदान अधिक मात्रा में रहा है। वैसे उनके पात्र कथावस्तु के सम्बंध में स्वयं सक्रिय रहते हैं। त्याग, तपस्या, स्त्रैणता, मोह, चोरी, लम्पटता, लोभ, लूट, मार, शोषण, प्रहार, प्रेम, दया, मानवता, उदारता, धोखा, प्रवंचना, छल तथा कपट आदि के जो अनुभव जीवन में हुए हैं उन्हें वाजपेयी जी ने अपनी कथावस्तु में भरा है। हाँ, एक उद्देश्य उनका अवश्य रहता है कि चोरी का चित्रण तो किया जाय किन्तु चोरी करने से यदि चोर को छुटकारा मिज जाय तो कितना अच्छा हो। यद्यपि

यह कार्य उपन्यासकार का नहीं, सुधारक का है किन्तु कहीं-कहीं के चित्रणों में ऐसा लगता है कि उपन्यासकार ने समाज-सुधार का ठेका ले लिया है।

वाजपेयी जी के कथावस्तु-संयोजन में एक दृढ़ता पायी जाती है जिसके आधार पर बीच में कोई अवकाश या 'गैप' नहीं पाया जाता। घटनाएँ ऐसे क्रम से सँजोयी गयी हैं कि कथावस्तु की एकरूपता स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है। 'सपना बिक गया' उनका ऐसा उपन्यास है जिसकी कथावस्तु का संयोजन पात्रों की चिंताधाराओं पर आधारित है। वस्तुतः अपनी शैली में यह एक नया प्रयोग है। हिन्दी उपन्यासों में इस शैली का कोई उपन्यास नहीं है। अँगुलियों पर गिने जाने वाले पात्रों के विचार उपन्यास के कथानक की रचना करते चलते हैं।

कथावस्तु में घटनाओं का यथातथ्य चित्रण करने की शैली वाजपेयी जी की नहीं है। अपने उद्देश्य के अनुसार वे घटना को ऐसा मोड़ लेते हैं कि उसकी स्वाभाविकता बनी रहती है। बहुत पहले आचार्य विनयमोहन शर्मा ने 'पतिता की साधना' की कथावस्तु में विशृंखलता होने की बात कही—वह भी प्रारंभ में। अब तो घटनाओं का पोर-पोर आपस में भलीभाँति कसा रहता है। वाजपेयी जी के कुछ उपन्यास ('मनुष्य और देवता', 'निर्यातन' आदि) कथावस्तु के संगठन की दृष्टि से जल्दी में लिखे गये प्रतीत होते हैं। किन्तु इतने विवेचन के पश्चात् वाजपेयी जी के अधिकांश उपन्यासों की कथावस्तु के सन्दर्भ में निम्नलिखित निष्कर्ष निकले :—

१. कथावस्तु का संयोजन अनुभूतियों के आधार पर हुआ है।

२. घटनाओं का संगठन सुनियोजित है।

३. कुतूहल और जिज्ञासा के पुट के कारण कथावस्तु में आकर्षण पाया जाता है।

४. आकर्षक मानव-चरित्रों को प्रश्रय मिला है (चाहे वह 'राजपथ' का दिलीप हो अथवा 'सूनी राह' के पागल स्वामी)।

५. कथानक के संयोजन में उपन्यासकार अपनी निजी रुचि और पाठकों की रुचि के संतुलन में समझौतावादी है।

६. अहिंसा, दया, मानवता, औदार्य, विनम्रता आदि गुणों के विकास की ओर लेखक का सर्वत्र ध्यान पाया जाता है।

एक बात पर और विचार करके इस प्रसंग को समाप्त करना है। वाजपेयी जी के उपन्यासों की कथावस्तु में स्तर की दृष्टि से तो एकरूपता पायी ही जाती है किन्तु कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत अन्तर भी प्रतीत होता है। इसके उदाहरण के लिए हम 'निमंत्रण' और 'अधिकार का प्रश्न' को लेते हैं। 'निमंत्रण' के कथानक में

आनुषंगिक कथाओं का बोलबाला है जब कि 'अधिकार का प्रश्न' अपनी मुख्य कथा के आधार पर ही आगे बढ़ता है। कथानक की दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि 'अधिकार का प्रश्न' का लेखक पूर्वनिश्चित पृष्ठों में उपन्यास की समाप्ति चाहता है। 'निमंत्रण' के कथानक में यह 'जल्दी' नहीं पायी जाती। हाँ, इतना अवश्य है कि उद्देश्य की सफलता की दृष्टि से 'निमंत्रण' और 'अधिकार का प्रश्न' दोनों वाजपेयी जी के सफल उपन्यास हैं।

वाजपेयी जी अपनी 'कथावस्तु' की अवतारणा कैसे करते हैं? इस बात को समझने के लिए कुछ प्रमुख उपन्यासों का प्रारम्भ देखिए :—

"संयोग न हों तो जीवन का सारा माधुर्य लुप्त हो जाय। फिर कौन जीना पसन्द करे?

त्रिवेणी जब अपने मुकदमें की बहस समाप्त कर चुका तो अपने मुवक्किल राधेमोहन के साथ, हाई कोर्ट के सिविल लाइन्स वाले 'नील स्वर्ग' होटल को वापस आते हुए बोला—'देखो भाई, अब तुम्हारा मामला किनारे लग गया। जज साहब ने फ़ैसला तुम्हारे पक्ष में दे दिया। फ़ैसले की नकल कल मिल ही जायगी। इसके बाद दो-चार दिन में डिग्री इजरा कराकर अपने छप्पन हजार रुपये सीधे कर लेना। समझे?' "

**—विश्वास का बल**

"सुख की हों या दुःख की, प्रभाव या प्रतिक्रिया के रूप में जो छायाएँ, रेखाएँ और गहराइयाँ हमारे जीवन पर एक बार छा जाती हैं, उन्हें प्रायः हम मिटा नहीं पाते, वे हमारे जीवन के निर्माण, पथ के मोड़ और पगडंडियों के स्पष्ट तोड़ में निर्देशन का काम करती रहती हैं।"

**—यथार्थ से आगे**

"भावना-तरंगें कुछ आगे बढ़ गयीं। तब आए एक-एक करके कुछ छोटे-मोटे व्याघात। आषाढ़ का प्रथम दिवस, रिमझिम रात और साढ़े बारह बजे का समय। गरजते हुए बादल और बिजली की कौंध। सड़क के दोनों ओर पीपल और बरगद के सघन वृक्षों के छायामय वितान और बिजली की बत्तियों का जल-धाराओं से छन-छनकर आता हुआ शीतल प्रकाश। दोनों ओर के पोखरों से पहुँचने वाली, कल-कल गुंजित, छोटी-छोटी नालियों का उन्मुक्त पलायन और निखिल की साइकिल का वेगमग परिचालन।"

**—सूनी राह**

"गिरधारी लाला का कमरा, जिसमें तीन दरवाजे पूरब की ओर खुलते हैं, उसके दो फीट नीचे से ही फुटपाथ प्रारम्भ हो जाता है। उसके उत्तर की ओर खुलने वाला दरवाजा अन्तःपुर से जा मिला है। कमरे में उत्तर-दक्षिण जो बिजली के लैम्प लगे हैं वे जलाये नहीं गये। एक तीसरा लैम्प पश्चिमी दीवाल पर है, वही जल रहा है। उसके ऊपर बैठी हुई छिपकली शिकार की ताक में चुपचाप शांत भाव से चिपकी है। उसकी कंजी आँखों की पुतलियाँ बदल रही हैं और दरवाजे से लगी दीवाल के पास वाले कोने से चींटियों की एक सेना चली जा रही है।"

**—राजपथ**

"उन घड़ियों को मैं अधिक सौभाग्यशाली नहीं मानता, जिनमें मेरा जीवन रंगीन बना है। जीवन में उन्होंने कोई बहुत व्यापक परिवर्तन कर दिया हो—ऐसा भी मैं नहीं समझता। आज मैं जो कुछ हूँ उसके निर्माण में ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से उनका कोई हाथ रहा है—ऐसी बात भी नहीं है। लेकिन एक बात मैं अस्वीकार नहीं करूँगा। वह यह कि मुझे प्यार बहुत मिला है।"

**—चलते-चलते**

"साक्षात्कार होने पर चित्रा का परिचय देते हुए कालका ने बतलाया था—'आप यहाँ के प्रसिद्ध नेता श्री प्राणशंकर की बहिन मिस चित्रा हैं। चित्रकला से आपको विशेष प्रेम है, यह भी एक संयोग की बात है। कला में विशेष अनुराग रखने के कारण इंटर द्वितीय वर्ष से आपका पढ़ना भी छूट गया है।'"

**—चन्दन और पानी**

"उसका नाम तो था नीलकमल किन्तु घर के लोग उसे नीलू कहते। उसकी आँखें सदा कुछ पढ़ती-सी जान पड़तीं। यों वह बहुधा मौन रहती, किन्तु सामने आ जाने पर अगर कोई बात कहती, तो मुस्करा पहले देती।"

**—टूटा टी सेट**

अपने कथानकों को प्रारम्भ करने में वाजपेयी जी ने मुख्य रूप से निम्न शैलियाँ अपनायी हैं :—

(१) कोई दार्शनिक वाक्य कहकर।

(२) कोई चित्रण उपस्थित कर।

(३) किसी घटना द्वारा।
(४) प्रकृति-वर्णन द्वारा।

कथावस्तु के संयोजन के अन्तर्गत इस बात पर भी विचार करना होगा कि कथानक का वह प्रारम्भिक रूप कौनसा है जिसे पाठक चाहता है। किसी भी उपन्यास का प्रारम्भ इतना आकर्षक होना चाहिए कि पाठक की जिज्ञासा आगे बढ़ती चले। प्रत्येक पाठक 'क्लाइमेक्स' शीघ्र पाना चाहता है इसलिए उसकी रुचि का ध्यान उपन्यासकार को रखना चाहिए। उसका तो सबसे पहला काम यह है कि अपने उपन्यास के प्रति पाठकों की रुचि बढ़ा दे। वाजपेयी जी ने अपने अधिकांश कथानकों का प्रारम्भ दार्शनिक वाक्यों से किया है जो पाठक के लिए एक बोझ है। किन्तु पाठकों की रुचि आकर्षित करने में वाजपेयी जी की लेखनी प्रवीण इसलिए लगती है क्योंकि उसने दार्शनिक वाक्यों की लम्बी पंक्तियाँ नहीं बिछायी हैं। और जहाँ कहीं ऐसा हुआ है वहाँ प्रारम्भ में कुतूहल नहीं उत्पन्न हो पाया है। ऊपर जितने उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें ध्यान यह रखा गया है कि सभी कोटियों के 'प्रारम्भ' आ जाने चाहिए। 'विश्वास का बल' घटना से प्रारम्भ होता है। 'यथार्थ से आगे' दार्शनिक वाक्यावली के सहारे आगे बढ़ता है। 'सूनी राह' में प्रकृति-चित्रण या वातावरण-दर्शन है। 'राजपथ' में चित्रण की प्रधानता है। 'चलते-चलते' आत्म-चिन्तन के सहारे चलता है। 'चन्दन और पानी' में घटना है तथा 'टूटा टी सेट' में परिचय का प्रारम्भ है।

किसी घटना को बीच से उठाकर कहने की कला वाजपेयी जी को खूब आती है। 'दूखन लागे नैन', 'गोमती के तट पर' तथा 'चलते-चलते' आदि उपन्यासों के कथानक बीच से प्रारम्भ किये गये हैं। अरुचिकर विस्तार से वाजपेयी जी की लेखनी बचती चलती है। और सबसे बड़ी बात तो है प्रारम्भ की 'नाटकीयता'। 'चलते-चलते' उपन्यास की रचना में यह 'नाटकीयता' अपने चरम बिन्दु पर है।

आर्नोल्ड बेनेट ने एक स्थल पर लिखा है कि लेखक को उपन्यास के प्रारम्भ के प्रति सचेत रहना चाहिए क्योंकि प्रारम्भ पर सफलता-असफलता निर्भर रहती है। वाजपेयी जी अपने उपन्यासों को प्रारम्भ करके तानेबाने के सारे तन्तु इस प्रकार फैलाते हैं कि उन्हें भली प्रकार समेटा जा सके। जो धागा बढ़ जाता है, उसे वे काट देते हैं। यदि आवश्यकता पड़ गयी तो नया धागा भी जुड़ जाता है। कारीगरी ऐसी रहती है कि कहीं भी गाँठ नहीं पड़ने पाती। और अन्त तक सारे तन्तु समेट दिये जाते हैं। बिखरे हुए तन्तुओं में उलझन न आने पाये—

इसके प्रति वाजपेयी जी सजग रहते हैं। अंत में सारांश देने के पक्ष में वे नहीं जान पड़ते। शीर्ष पा जाने पर कभी-कभी किसी दार्शनिक वाक्य से वे अपने कथानक का अन्त करते हैं अथवा पाठक के लिए कोई ऐसा वाक्य देते हैं जिसे वह सोचता रहे। एक प्रयास 'अन्त' में पाया जाता है कि कथानक के तीन-चौथाई समाप्त हो जाने पर समस्त घटनाएँ तेजी से 'एकमेक' होने के लिए आगे बढ़ना प्रारम्भ कर देती हैं।

---

## ४ चरित्रों का आकलन

उपन्यासों के सर्जन के मूल में चरित्रों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। चरित्रों के आधार पर ही कथावस्तु का तानाबाना बनता है। आर० लिडेल महोदय का तो यहाँ तक कहना है कि कभी-कभी लेखक कथावस्तु का चक्कर छोड़कर बड़ी गंभीरता के साथ चरित्रों का आकलन करता है। कथावस्तु और चरित्र में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है ? इस प्रश्न पर पीछे थोड़ा-बहुत सोचा गया है। यहाँ यह बात हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं, कि बिना कथावस्तु के उपन्यास हो सकता है; किन्तु बिना चरित्र के उपन्यास की रचना कठिन है। बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार शंकर से पाठक अवगत होंगे। उन्होंने 'कितने अनजाने रे' (कत अजाना रे) तथा 'चौरंगी' की रचना करके यह सिद्ध कर दिया, कि चरित्र का स्थान प्रमुख है और कथावस्तु गौण। श्री जे० डी० वर्सफोल्ड नामक विचारक ने लिखा है, कि ममुष्य का महत्त्व अधिक होता है, न कि कथावस्तु या विचारों का। अँग्रेजी साहित्य में चरित्र की दृष्टि से एफ० मैरियन क्राफोर्ड के उपन्यास प्रसिद्ध हैं। उन्होंने चरित्र की महत्ता पर विचार करते हुए लिखा है—' जब कोई लेखक अपनी पुस्तक की रचना करता है तो उसके पात्र उसके साथ होने चाहिए, उसके मस्तिष्क की आँखों के सामने होने चाहिए तथा उसके हृदय के के कानों में बातें करते होने चाहिए।''

वाजपेयी जी का मन्तव्य तो यह है कि उनके पात्र उनसे बातें करते हैं। कभी-कभी जब उनके साथ लेखक न्याय नहीं कर पाता तो वे झगड़ते भी हैं। आग्रह करके अपनी बात मनवाने के जिए बाध्य कर देते हैं। एक बार 'सूनी राह' के निखिल को लेकर बात चल पड़ी। मैंने पूछा—'पंडित जी, निखिल ने आपका क्या बिगाड़ा था; आखिर आपने उसके अधरों तक मधु का प्याला ले जाकर फिर क्यों हटा लिया ?' वाजपेयी जी बोले—'भाई, यह शिकायत निखिल को भी है। हमें इसका निदान खोजना है—और अवश्य खोजना है।'

हिन्दी उपन्यास साहित्य में खाते तो बहुत खोले गये हैं; (जहाँ जमा दिखाया जाता है। खर्च तो कृति के मूल्य के अनुसार समय स्वयं कर देता है, उसे दिखाने की आवश्यकता नहीं) किन्तु आदर्शवादी और यथार्थवादी खाते बड़े ख्यातनाम

हैं। सुविधानुसार किसी भी उपन्यास को इनमें से किसी में जमा कर दिया जाता है। इन खातों पर पृथक् विचार करना होगा। यहाँ तो केवल यह देखना है, कि इस विभाजन का चरित्रों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? क्या आदर्श और यथार्थ का झमेला पात्रों के साथ भी है ? कुछ समीक्षकों ने वाजपेयी जी के उपन्यासों को आदर्शवादी कहकर उनके पात्रों को भी अधिकांशतः आदर्शवादी कहा है। चरित्रों पर विचार करते हुए इन बातों को ध्यान में रखना है।

वाजपेयी जी को वे पात्र (या चरित्र) अधिक रुचते हैं, जिनका व्यक्तित्व आकर्षक होता है। उपन्यास लिखने के लिए जो दृष्टि किसी भी लेखक में होनी चाहिए, उसके सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने कहा है—"वह दृष्टि, जो दस-बीस व्यक्तियों के बीच से किसी एक व्यक्ति को कल्पना ही कल्पना में हाथ पकड़कर अपनी ओर खींच लेती है। साहस, इच्छा, शक्ति और नियंत्रण में ऐसी कोई आवश्यक शर्त नहीं है कि वह व्यक्ति बालक हो या वृद्ध, प्रौढ़ हो या तरुण, पुरुष हो या स्त्री, पागल हो या दार्शनिक, चिरकुमारी अभिनेत्री हो या बालविधवा तपस्विनी। इसीलिए नहीं कि वह पात्र मेरी आँखों को सुखकर और प्यारा लगता है, वरन् केवल इसलिए कि जान पड़ता है, कि उसे मुझसे कुछ कहना है, और ऐसा कुछ प्रतीत होता है, कि जो कुछ उसे मुझसे सुनना है, उसका अधिकारी मैं हूँ, एक मात्र मैं।"

सुविधा की दृष्टि से वाजपेयी जी के उपन्यासों के चरित्रों की दो श्रेणियाँ हम कर लेते हैं—(१)स्त्री पात्र, (२)पुरुष पात्र। पहले स्त्री पात्रों पर हम इसलिए विचार करेंगे, क्योंकि ऐसा न करने पर 'करुणा'('सूनी राह' की नायिका) को तो हम समझा लेंगे, किन्तु जब मुरली ('टूटते बंधन' की नायिका) मुझसे यह कहेगी कि कहिए महाशय ! मेरे साथ यह गुस्ताखी ! मेरी दशा शोचनीय इसलिए और हो जाएगी क्योंकि वाजपेयी जी भी मुरली का ही पक्ष लेंगे।

प्रारम्भिक उपन्यासों के स्त्री पात्रों की रचना देखने से यह पता चलता है, कि लेखक की अनुभूति एक ओर काम करती रही है, और दूसरी ओर उसकी सजगता भी सक्रिय रही है जिसके अनुसार उसने काट-छाँट भी की है। समाज के किसी भी चरित्र का चित्रण यथावत् प्रस्तुत किया जाय, यह लेखक के लिए आवश्यक नहीं है। एक ओर तो वह समाज के चरित्र का चित्रांकन करता है और दूसरी ओर बीच-बीच में अपनी रुचि के अनुकूल कुछ अनोखापन भी लाने का प्रयास करता है। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है, कि लेखक का अनोखापन पाठक को खटकने लगता है। वाजपेयी जी के स्त्री पात्र इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं। यह बात मैं उनके सभी उपन्यासों के पात्रों के सम्बंध में कह रहा हूँ। जिन स्त्री

पात्रों को उपन्यास में प्रमुख स्थान मिला है उनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि उनके आकर्षक व्यक्तित्व की छाप से पाठक के हृदय पर बड़ी चटक पड़ती है और जिसे समय का पानी धो नहीं पाता। 'प्रेम पथ', 'मीठी चुटकी' और 'अनाथ पत्नी' के स्त्री पात्रों की रचना में स्वाभाविकता कम और उदीयमान लेखक का जागरूक कौशल अधिक है, किन्तु 'पतिता की साधना' तक आते-आते वाजपेयी जी अपने पाठकों को मोह लेते हैं ।

'नन्दा' का चरित्र हमें यह बताता है कि समाज ने नारी को पंगु बना डाला है, उसके पंख कतर दिये हैं, उसे मजबूर कर दिया है। अनुभूति के स्वर बोलते-से लगते हैं। पुरुष लेखक के सामने यह अड़चन सदैव बनी रहती है कि स्त्री पात्रों की अनुभूति कैसे ग्रहण करे। उनका व्यवहार, मनोबल, उच्चाकांक्षाएँ और चारित्रिक विशेषताएँ ग्रहण करना आसान काम नहीं है। यहाँ एक सन्दर्भ स्मरण हो आया। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'जगद्गुरु' नाटक में जब भारती ने शंकर से पूछा—"काम का निवास किन तिथियों को पुरुष और स्त्री के अंगों में कहाँ-कहाँ रहता है ?" शंकर ने उत्तर दिया—"माँ, मैं बाल ब्रह्मचारी हूँ। फिर भी मुझे कुछ समय चाहिए।" भारती ने अनुमान लगाया था, कि इस अवधि में शंकर किसी राजकुमारी के हृदय में प्रवेश करके प्रश्न का उत्तर खोज लेंगे। वाजपेयी जी का लेखक भी बड़ा चतुर है इस प्रसंग में। चरित्र का ऐसा चित्रण आपको मिलेगा, जिसे पढ़कर सहज ही आपका ध्यान किसी ऐसे पात्र की ओर चला जायगा जिसे आपने देखा होगा, जो आपसे परिचित होगा। हो सकता है, कि आप उसके मित्र या शत्रु रहे हों ।

वाजपेयी जी के उपन्यासों के स्त्री पात्र सातवें आसमान के नहीं हैं। वे इसी लोक के प्राणी हैं। उन्हें आपने देखा है, सुना है किन्तु देख-सुन कर आपने छिपाया है, किसी से बताया नहीं। देखिए 'दो बहनें' उपन्यास की आशा क्या कहती है— 'नारी एक आँधी भी है, एक सरिता भी है। उसमें वेग और प्लावन भी कभी आता है।" इस प्रसंग में नारी सम्बंधी समस्याओं को अपने उपन्यासों में वाजपेयी जी ने उठाया है। इन समस्याओं के चित्रण में नारी पात्रों की बड़ी स्वाभाविक संयोजना की गयी है। कहना न होगा कि वाजपेयी जी के नारी पात्र स्वाभाविक गति से अपने जीवन को जीते जाते हैं। पाठक भी उनके साथ चलता रहता है; किंतु ध्यानपूर्वक विचार करने पर लगता है कि पीछे से जैसे कोई कह रहा है—' देख लो, यही है तुम्हारा समाज, यही है तुम्हारे समाज की नारी, जिसे तुम पतिता कहते हो और जिसपर तुम्हें गर्व है ।"

'विश्वास का बल' वाजपेयी जी का प्रसिद्ध उपन्यास है। इसके मुख्य नारी

पात्रों में रमा और लक्ष्मी का नाम आता है। लक्ष्मी के पतिदेव हैं त्रिवेणी बाबू। वकील हैं। उनके पास धन है, जिसके नशे में वे चूर हैं। रमा लक्ष्मी की छोटी बहिन है। आकर्षक व्यक्तित्व के कारण उसने त्रिवेणी बाबू के हृदय में स्थान बना लिया है—उसने नहीं बल्कि त्रिवेणी बाबू ने स्वयं अपने हृदय में उसे स्थान दिया है। वे सोचते भी तो हैं :—

"विद्यालयों के अध्यापक जैसे अपनी नौकरी के प्रति ईमानदार नहीं हैं, जैसे वे ट्यूशन की बदौलत जीते हैं, ठीक उसी तरह आज मैं स्वयं भी तो लक्ष्मी की ओर ध्यान न देकर रमा की बात सोचा करता हूँ। शिक्षक बिचारा तो अपनी गरीबी की मार से तबाह रहता है, इधर मैं अपनी दौलत के नशे में गुमराह।" त्रिवेणी बाबू की चेष्टा का पता तो चल गया, किन्तु रमा का चरित्र देखिए—"स्वभाव की बड़ी मुखर, और इतना ही नहीं साधारण लड़के के साथ प्रणय-सम्बंध उसका नहीं हो सकता—यह बात उसकी सहेली सुहासिनी भी जानती है जो रमा के साथ कालेज में पढ़ती थी।" व्यंग्य और कटाक्ष के आधार पर मजा लेना रमा को खूब आता है। एक दृश्य ध्यान में आ गया। सुहासिनी के घर पर राजीव ने रमा से नमस्ते करते हुए कहा था—"आपका परिचय पाकर मेरे आत्मीय जगत में एक संवृद्धि हुई है।" रमा ने प्रतिनमस्कार में उत्तर दिया था—"बड़ा गड़बड़ हो गया!" राजीव और सुहासिनी दोनों गम्भीर हो गये। इस पर रमा ने कहा—"जो कुछ कहने के लिए मैंने सोचा था, सो तो आपने कह डाला। अब मैं क्या कहूँ?" यह सुनकर सभी हँस पड़े। रमा का 'टेस्ट' भी कुछ विशेष प्रकार का है। साधारण वर उसे पसन्द नहीं है। यह बात उसके पिता बिहारी बाबू भी जानते हैं। दुःख और शोक के क्षणों में उसका मानस-लोक द्रवीभूत हो जाता है। पिता की मृत्यु ने उसके जीवन पर ऐसा प्रभाव डाला था, कि स्मृति में रूप आते ही आँखों में आंसू आ जाते थे। अपनी परिस्थितियों से परेशान होकर रमा ने विष पीने की योजना बनायी। असफल भी हुई। जीवन में स्वच्छ-न्दता आयी। आहार और विहार में मनमानी हुई। उच्छृंखल सखियों का प्रभाव पड़ा। उसने अपनी सखियों के साथ सामिष आहार जारी रखा।

धीरे-धीरे त्रिवेणी की ओर से रमा के मन में विकर्षण का भाव पैदा हुआ। आगे चलकर उसका विवाह राजीव से हो गया। अपनी परिस्थितियों से ऊबकर रात्रि के सन्नाटे में वह अपना घर छोड़ देती है। उसे अपने गर्भ का भी ध्यान है। उसे यह बात बहुत खलती है कि राजीव और वंदना का साथ है। समुद्र के किनारे पहुँचकर रमा के मन में अनेक भावों का उदय होता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में यहाँ लेखक ने कमाल दिखाया है। रमा की दृढ़ता बोल

उठी—"मैं झुकने वाली नारी नहीं।" वह लौटती है; किन्तु अंत में गाड़ी में अकेली बैठकर वह इलाहाबाद लौट आयी।

त्रिवेणी बाबू से मिलने का अवसर पुनः प्राप्त हुआ। किन्तु अन्त में राजीव का साथ रमा को पुनः प्राप्त हो गया। ई० ए० फारेस्टर महोदय ने चरित्रों को जिन दो भागों में बाँटा है उनके अनुसार रमा का चरित्र स्थिर न होकर गतिशील है। वस्तुतः गतिशीलता ही जीवन है। यह भारतीय सामाजिक परम्परा है जिसने वाजपेयी जी को प्रेरित किया कि वे रमा को राजीव के लिए पुनः वापस कर दें।

रमा के जीवन की सारी घटनाएँ स्वाभाविकता की भावभूमि पर घटी हैं। पीछे वाली घटना आगे वाली घटना के लिए उत्तरदायी है। रमा भारतीय धरती की रमणी है। रूप-सौन्दर्य के वर्णन में उसका आकर्षक और परम मुखर व्यक्तित्व पाठक को अपनी ओर खींचता है और जब अपनी परिस्थितियों की ठोकर खाकर वह अपने जीवन-दीप को समुद्र की बलखाती लहरों को समर्पित करने जाती है, तो पाठक की सहानुभूति रमा के साथ हो जाती है। मनोभावों के उतार-चढ़ाव का तारतम्य कहीं टूटने नहीं पाता है। हाँ, जाने क्यों उपन्यासकार गर्भ का नाम लेकर बाद में चुप हो जाता है। बच्चे की ममता का बहुत बड़ा हाथ है रमा को डूबने से बचाने में। प्रणयिनी रमा का रूप वात्सल्य के प्रसंग में कैसा होता? यह बात पहेली रह गयी।

'विश्वास का बल' उपन्यास में वंदना और लक्ष्मी के चरित्र प्रमुख और आकर्षक हैं। मर्यादा और लोक-परम्परा की दृष्टि से लक्ष्मी की समता कोई नहीं कर सकता; किन्तु वंदना के चरित्र पर सिनेमा का प्रभाव है। वाजपेयी जी के स्त्री पात्रों की एक विशेषता यह रहती है कि वे अपनी रूप-माधुरी में परपुरुष पात्रों को निमग्न कर लेती हैं किन्तु उपन्यासकार के सत्प्रयास से उन्हें अपने प्रकृत ढर्रे पर चलना पड़ता है। रमा और त्रिवेणी, राजीव और वंदना का सम्बन्ध 'विश्वास का बल' में, करुणा और निखिल का सम्बन्ध 'सूनी राह' में, वसंत और कला का सम्बन्ध 'गोमती के तट पर', मालती और गिरधारी का सम्बन्ध 'निमंत्रण' में, नीलम और अरुण का सम्बन्ध 'टूटा टी सेट' में इसी कोटि का है।

किशोर वय वाली स्त्रियों को झकझोरने वाला चरित्र है मुरली का 'टूटते बंधन' नामक उपन्यास में। मुरली यशवन्त के बनावटी प्रेम के रेशमी फन्दे में पड़ जाती है। एक रात ऊबकर यशवन्त से वह कहती है—"प्रेमी के पास और कुछ नहीं होता, तो प्रेम की लाज तो होती है। तुमने तो उस लाज की हत्या कर डाली। आज भी किसी सुन्दरी को देखकर तुम्हारा मन चंचल हुए

बिना नहीं मानता।" यह कथन यशवन्त को प्रेरणा देता है। और उसी प्रेरणा के फलस्वरूप वह मुरली को छोड़कर चला जाता है। दुष्यंत और यशवन्त को मुरली भूल नहीं पाती। अंत में बुद्धि बाबू की सहायता से मुरली का उद्धार होता है। यह चरित्र ऐसा है, जिसपर हम विश्वास करते हैं। जो सत्य न होते हुए भी सत्य जैसा लगता है। यही वह सर्जन-कला है, जो अपनी एक चमक से हमें आकर्षित करती है।

परिवार और समाज से संबंधित कई प्रकार के नारी पात्रों के चित्रण वाजपेयी जी ने प्रस्तुत किये हैं। ग्रामीण वृद्धा से लेकर सिनेमा जगत में काम करने वाली चिर-किशोरी तक का चित्र वाजपेयी जी के उपन्यास साहित्य में मिलेगा। अनुभूति की दृष्टि से सोचने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वाजपेयी जी का सिनेमा जगत में कुछ दिनों तक रहना चित्रण की दृष्टि से कितना अच्छा रहा। अपनी लेखन प्रक्रिया के सन्दर्भ में एक स्थल पर वाजपेयी जी ने लिखा है—"ध्यान से देखता हूँ तो याद आता है कि जब-जब मैं लिखने बैठा हूँ, ऐसा कभी नहीं हुआ कि मेरे सामने अधिक देर तक यह प्रश्न खड़ा रह सका हो, कि मैं क्या लिखूँ ? ऐसा कोई दिन नहीं हुआ, कि जीवन की कुटिलता और कुरूपता ने मुझे झंकृत न किया हो। ऐसा भी हुआ है कि कभी-कभी तो कोई तार ही टूट गया है।" लेखक ने अपनी इसी धारणा के आधार पर समाज से अपनी रुचि के स्त्री पात्र चुने हैं। उनके मन की वृत्तियों का आकर्षक चित्रण प्रस्तुत किया। आदर्श पत्नी, यौवन की वाटिका में विहार करने वाली रमणी, समाज की वंचिता वेश्या, परित्यक्ता बाला, नयी सभ्यता की रोशनी में रूप का लावण्य बिखेरने वाली युवती, माँ, बहिन, भाभी और नारी के अन्य रूप वाजपेयी जी ने बड़े मनोयोग से चित्रित किये हैं। प्रतीत होता है सभी के हृदय में बैठकर उनकी प्रवृत्तियों की बांकी झांकी लेखक देख आया हो।

'विश्वास का बल' उपन्यास की लक्ष्मी, रमा, हिमानी और वंदना, 'चलते-चलते' की भाभी, लाली और वैशाली, 'गोमती के तट पर' की कला, वसुधा और एकादशी, 'राजपथ' की लक्षणा, व्यंजना, अभिधा और शेफाली, 'मनुष्य और देवता' की जानकी, स्वर्णलता तथा विभावरी, 'भूदान' में देवकी, वीणा, रेणु, यमुना, आधुनिका तथा गोमती, 'चन्दन और पानी' में चित्रा, पुष्पगंधा, रागिणी तथा फूलमती, 'निरंतर' में कमलेश्वरी, जाह्नवी, अनारकली, परमेश्वरी तथा मल्लिका, 'टूटा टी सेट' की नीलकमल, प्रियम्वदा तथा वसंतप्रभा, 'कपट निद्रा' की रानी (रन्नो) मीरा, शारदा और अरुन्धती, 'टूटते बंधन' की मुरली, मालिन भौजी, बेला, हरिप्रिया, रामजानकी तथा अनवरी और शमशाद, 'दूखन

लागे नैन' की वीणा, यशोदा, उर्मिला तथा गीतादेवी, 'उनसे न कहना' की कल्याणी, हमीदा, रशीदा, नयनतारा, कौशल्या तथा राजेश्वरी, 'सपना बिक गया' की राका और शैल, 'सूनी राह' की करुणा, मालती और अमिता, 'यथार्थ से आगे' की रंजना, हेमा, अरुणा, पियासी तथा 'श्रीमती जी', 'निमंत्रण' की मालती और रेणु आदि स्त्री पात्र ऐसे हैं जो अपने-अपने वर्गों की विशेषताओं से युक्त हैं। चरित्र की दृढ़ता, हीनता और बल के बोलते हुए चित्रण उपन्यासकार की पैनी दृष्टि के प्रमाण हैं। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है, कि कोई स्त्री पात्र अपनी विशेषताओं के कारण पाठक को आकर्षित कर रहा है; किन्तु आगे चलकर उपन्यास में उसका कहीं पता नहीं चलता। 'चलते-चलते' की वैशाली के संबंध में यह बात बहुत उपयुक्त है, वैशाली के जीवन का अंकुर बीसवीं शताब्दी की सभ्यता की धरती पर उगा है। बड़ा 'अट्रैक्शन' है उसमें; किन्तु जाने क्यों उपन्यासकार ने उसे अनावश्यक धागा समझकर काट दिया है। यद्यपि वह रेशमी और मनोहारी है।

नारी पात्रों के चित्रण के प्रसंग में निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि लेखक ने समाज की कुत्सा, घृणा, निर्लज्जता, मलिनता, और पंकिलता नहीं बटोरी है। इन चरित्रों के अध्ययन से पाठक को एक दिशा मिलती है—जीवन की दिशा—जीने की कला की दिशा—जहाँ का समाज परिवारों का आदर्श रूप लिए है और जिसमें नारी की रूप-धारा बहिन, बेटी, माँ, प्रेमिका, पत्नी आदि रूपों में विश्वास के पर्वत की गोद से निकलकर जीवन-भूमि को रसमयी बना रही है।

पुरुष वर्ग के जो चरित्र वाजपेयी जी ने मुख्य रूप से अपने उपन्यासों में चित्रित किये हैं, वे मध्यम वर्ग के हैं। वैसे तो उच्च और निम्न वर्ग के चरित्र भी आप को मिलेंगे; किन्तु अधिकता मध्यम वर्ग के चरित्रों की है। इस विषय में वाजपेयी जी का मन्तव्य है, कि जैसी जिन्दगी मैं जीता हूँ, वैसी चित्रित करता हूँ। उनके पहले के उपन्यासों के चरित्रों में एक चरित्र है कमलनयन का। 'पिपासा' उपन्यास का प्रमुख पात्र है। एक समालोचक महोदय को शिकायत है, कि कमलनयन बनता तो है बड़ा न्यायप्रिय; किन्तु अपने मित्र की पत्नी का आलिंगन कर लेता है। वस्तुत: वाजपेयी जी के पाठकों को यह भ्रम हो जाता है। आदर्शवाद के पुतले के सम्बंध में तो कहना कठिन है; किन्तु यदि चरित्र इस धरती का मानव होता है, और बस केवल इसीलिए उस में कमजोरियाँ हैं, जिसके आधार पर ही वह मानव है। यदि आदर्श की मूर्तियाँ गढ़नी हैं तो राम और कृष्ण पर्याप्त हैं। आज के पाठक को बहकाना कठिन काम है। मनोविश्लेषण

का संसार इतना विकसित हो गया है कि विश्व का बहुत कुछ अंश उसके अन्तर्गत आ जाता है। सिनेमा के मध्यान्तर में सुमिरनी फेरने वालों के लिए विश्राम सागर का अध्ययन पर्याप्त है। आदर्श को पाखण्ड बनाकर कुत्सित करना साहित्यकार का धर्म नहीं होता।

वाजपेयी जी के कुछ उपन्यास ऐसे हैं जिनमें स्त्री चरित्रों का चित्रण सुन्दर बन पड़ा है और कुछ में पुरुष चरित्रों का। इसके साथ ही कुछ ऐसे भी हैं जिनमें दोनों का चित्रण समान रूप से चलता है। प्रारंभिक उपन्यासों में स्त्री पात्रों के चरित्र विशेष बन पड़े हैं। बाद में 'राजपथ', 'निमंत्रण', 'विश्वास का बल' आदि में पुरुष चरित्र भी विशिष्ट हैं। 'सूनी राह', 'टूटा टी सेट' तथा 'अधिकार का प्रश्न' में पुरुष और स्त्री दोनों प्रकार के चरित्र सुन्दर हैं। वैसे वाजपेयी जी के पुरुष चरित्रों के जीवन की अपनी एक शैली है। उसी शैली की जिन्दगी वे जीते हैं। चोरी करने वाले चरित्र को सुधार का पथ मिलेगा। प्रेम-पियासे को रसमयता की तृप्ति मिलेगी, आर्त्त और विवश को उत्साह और सहारा मिलेगा। ताप से विह्वल प्राणी को जीवन-प्रदायिनी शीतल छाया मिलेगी। इसी आशा से वाजपेयी जी के चरित्रों का अध्ययन करना चाहिए। मैं तो इसी मार्ग से चलते-चलते धोखा खा गया। कुछ कृतियों का अध्ययन करने के पश्चात् मैंने चरित्रों के सम्बंध में उपर्युक्त निष्कर्ष निकाला। ठीक इसी समय 'सूनी राह' पढ़ी। उलटी बात थी। निखिल के जीवन में प्रेम की प्यास नहीं बुझ पायी। और तो और उपन्यास समाप्त हो गया और 'सूनी राह' के नायक को वाजपेयी जी अपनी शैली के अनुसार तृप्त न कर पाये। उनसे शिकायत नहीं करूँगा, नहीं तो वे कहेंगे—भाई इसे आप शैली नहीं मानते क्या ? वाजपेयी जी ने अपने किसी उपन्यास में गाँव की एक लड़की को सलवार के साथ ब्लाउज पहनवा दिया है। मैंने पूछा था—यह सब क्या है, पण्डित जी ? आप बोले—"जिस समय उसका चित्र मेरे सामने था—वह यही पहने रही होगी।" तभी से कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ती। कभी-कभी उनके पात्र अपने व्यक्तित्व में अनेक विचित्रताएँ लेकर सामने आते हैं।

यहाँ कुछ मुख्य पुरुष चरित्रों की विशेषताओं को देख लिया जाय, जिसके आधार पर एक निष्कर्ष निकाला जा सके। 'राजपथ' के पुरुष चरित्रों में दिलीप का स्थान प्रमुख है। वही कृति का नायक भी है। उसकी रचना में उपन्यासकार ने परिश्रम से काम किया है। यद्यपि चित्रण में कहीं-कहीं बनावटीपन आ गया है; किन्तु दैवी प्रकोपों के कारण संत्रस्त धरती का उद्धार वह करता है। उसका नाम है दिलीप। चन्दे के प्रश्न पर विचार करता हुआ वह अपने साथी से जो कुछ

कहता है उसी से उसके चरित्र का अनुमान लगाया जा सकता है—

"देखो सुरेन्द्र, मैं उन चन्दाखोर लोगों में नहीं हूँ, जो सम्पूर्ण देशभक्त जाति के मुख-मंडल पर दोनों हाथों से कलंक की कालिमा पोतने पर तुले हैं। मैं उन बने हुए देशभक्तों में भी नहीं, जो अपने अन्दर ही अन्दर पनपने वाले कोढ़ को इसलिए छिपाया करते हैं, कि कहीं उसी लपेट में वे स्वयं भी न आ जायें। पर जो लोग मानवता के दारुण उत्पीड़न के क्षण अपव्यय अथवा गबन की प्रचारित बातों से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं, उनको यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, कि ऐसा युग कभी नहीं आयेगा, जब पैसे के नाम पर मुँह फेरलेने वाले धनाधीशों की हृदय-हीनता इसलिए प्रशंसित और सराहनीय समझ ली जायगी, कि सेवा के कार्य में दम तोड़ने वालों में से किसी एक के लिए चन्दे की रकम में से दस रुपये कफन के लिए दिये गये थे। पिछले दिनों बाढ़-पीड़ित जनता के बीच रहकर मैंने ऐसे-ऐसे भयानक दृश्य देखे हैं, कि सरल, कोमल और भाव-प्रवण सुजन यदि उन्हें देख लें तो उनकी मानसिक शान्ति लुप्त हो जाय। या तो वे पूरा दृश्य देखने के पहले ही मूच्छित हो जायं अथवा कालान्तर में निश्चय-पूर्वक विक्षिप्त हो उठें। साधारण व्यक्तियों के लिए यह कह देना बड़ा सरल है, कि जीना मरना तो लगा ही रहता है। पर केवल भूख की ज्वाला से दग्ध हो-होकर जब कोई प्राणी प्राण रहते हुए भी देखता है कि कौवा आँखों में चोंच मार रहा है और उसका जीर्ण जर्जर असमर्थ हाथ ही उस पर नहीं उठ पाता। तब ऐसे दृश्य देख कर भी जो लोग हृदय खोल कर पीड़ित मानवता की रक्षा के लिए अपने संचित कोष का मुँह देखते हैं, वे मनुष्य नहीं राक्षस हैं। मनुष्य की सब से बड़ी शक्ति केवल दया और ममतामयी वह संस्कृति है जो भूखे को भोजन, नंगे को वस्त्र, असहाय और असमर्थों को त्राण और पोषण देती है। यदि ऐसी संस्कृति पर आपका विश्वास नहीं है, तो चन्दे की क्या बात है, चाय-वाय का यह शिष्टाचार भी बनावटी है। और मौखिक सहानुभूति और बनावटी शिष्टाचार का मोह अब मैंने छोड़ दिया है।" बात बड़ी लम्बी है, किन्तु है बड़े काम की। इन बातों से दिलीप का चरित्र झलकता है। देश-सेवा का व्रत, समाज के उद्धार का संकल्प, पीड़ितों की सहायता के प्रति जागरूकता, दीनों और असहायों के कालिमायुक्त मानस लोक में उत्साह का उज्ज्वल प्रकाश देने का स्वर—यह सब कुछ दिलीप के चरित्र में पाया जाता है। समाज के बल के आधार पर वह सब कुछ करना चाहता है। ऐसे दिलीपों की आवश्यकता वर्तमान भारत को है, क्योंकि कई सौ वर्षों में चढ़ाया गया रंग पक्का हो गया है। नया रंग चढ़ाने में समय लगेगा।

'विश्वास का बल' उपन्यास में एक प्रमुख चरित्र है त्रिवेणी बाबू का। वे भी अपने ही समाज के जीव हैं। क्या स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया गया है! आप जाने-माने वकील हैं—जिला न्यायालय के नहीं, हाईकोर्ट के।

त्रिवेणी बाबू के ही कुछ कथनों को देखिए :—

अपने मुवक्किल राधे बाबू से कहते हैं—"अब अगर-मगर कुछ नहीं। शुकराना दे डालो तो खुशी से मैं कानपुर लौट जाऊँ।"

पुनः राधे बाबू से—"शुकराने में अगर इस मूजी से तीन शून्य वाली रकम न ऐंठ ली तो कुछ न किया।"

अपने अन्य मुवक्किलों से—"सच बोलने में कोई ब्यूटी नहीं है। ध्यान से देखा जाय तो असत्य बोल कर अपना मन्तव्य सिद्ध कर दिखाने में बुद्धि और विवेक में जो निखार उत्पन्न हो जाता है वह सच्च बोलने में कभी संभव नहीं होता।"

अपनी, अपने चरित्र की वकालत स्वयं करता हुआ त्रिवेणी सोचता है—"स्थायित्व गरिमा का भी लक्षण है, ऐश्वर्य का भी। तो इसका अर्थ यह हुआ कि मानव सभ्यता ने जो उन्नति की है, उसमें इन्हीं दोनों गुणों का हाथ मुख्य है। परिवर्तन और स्थायित्व, दोनों पृथक्-पृथक् होते हुए भी परस्पर संलग्न हैं, विरोधी होते हुए भी सहोदर बंधु···ठीक तो है। लक्ष्मी और रमा भी तो सगी बहनें हैं। यद्यपि दोनों अपनी-अपनी जगह अपना पृथक्-पृथक् महत्त्व रखती हैं। अच्छा तो इसमें पाप क्या है?"

त्रिवेणी के सम्बंध में उपन्यासकार अन्यत्र लिखता है—"त्रिवेणी बाबू हिमानी (वेश्या) का पत्र जला रहे थे—दसों दिशाएँ हाथों की तर्जनी उठा-उठाकर उनसे कह रही थीं—धोखा तुमने अपनी पतिप्राणा पत्नी को दिया है। तुमने उसके विश्वास के बल की हत्या की है। तुम आदमी नहीं जानवर हो। थू······।"

और अन्त में एक अन्य मार्मिक प्रसंग है। रमा राजीव के यहाँ से वापस आती है। लक्ष्मी का गोलोकवास हो चुका है। रमा पुराने प्रेम-सम्बंध का ध्यान दिलाती है। त्रिवेणी कहता है—"कहा था। और फिर कहता हूँ कि प्रकट रूप से मेरी यह भेंट स्नेह का स्वरूप रखती थी, किन्तु प्रच्छन्न रूप से इसमें एक विकार था। और मैं मानता हूँ कि यह विकार ही तुमको मेरे इतने निकट खींच लाया है।" एक वकील के रूप में जीवनयापन, अलीकवादिता पर आस्था, पत्नी की बहिन से प्रेम, वेश्याओं का आकर्षण, गृहस्थ जीवन के प्रति उदासीन और अन्त में एक ठोकर—और फिर सजगता—यही है त्रिवेणी बाबू का जीवन। वह अपने मन का राजा है। उत्तरदायित्व से भागा-भागा फिरता है किन्तु अन्त

में उसका जीवन एक मोड़ ही नहीं लेता है; अपितु अपनी ओर पाठकों के ध्यान को खींच लेता है। इस प्रकार का परिवर्तन वाजपेयी जी ने अपने अनेक चरित्रों में किया है। उनके चरित्र लंपट से सदाचारी, कपटी से ईमानदार, स्वच्छन्द से उत्तरदायी, पाशव से मानव बनते दिखाई पड़ते हैं।

त्रिवेणी का चरित्र पाठकों का जाना-पहचाना है। इसी प्रकार बिहारी बाबू भी अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। पुराने विचारों के आदमी हैं। जीवन की हर रात और हर दिन का हिसाब रखते हैं। परिवार के सभी सदस्यों के प्रति एक प्रकार की जागरूकता और सतर्कता पायी जाती है। त्रिवेणी के जीवन की अस्तव्यस्तता देखकर अपनी बड़ी पुत्री लक्ष्मी के जीवन के प्रति चिन्तित रहते थे। बिहारी बाबू के चरित्र में वे समस्त विशेषताएँ पायी जाती हैं जो किसी हिन्दू सद्गृहस्थ के प्रसंग में सोची जा सकती हैं।

पुरुष पात्रों के चयन में वाजपेयी जी ने अनेकरूपता का ध्यान रखा है। त्रिवेणी, बिहारी बाबू, राजीव, मुरारी, मि० मेहरा, विनोद बंधु तथा व्यास जी आदि चरित्र इस विचित्र चित्रशाला के नमूने हैं। उनकी पण्य-वीथी कितनी आकर्षक है। कायर और भीरु हृदय वाले चरित्र भी आपको वाजपेयी जी की कृतियों में मिल जायेंगे। दुकानदार, सेठ, महाजन, अध्यापक, वकील, सिनेमा डाइरेक्टर, ऐक्टर, ऐक्ट्रेस, मजदूर, किसान, नेता, आफिसर लगभग सभी के चित्रण वाजपेयी जी के उपन्यास साहित्य में मिलते हैं। यह सारा चित्रण भूत का नहीं अपितु वर्तमान का है। जो कुछ हम अपने दैनन्दिन जीवन में देखते हैं उसी का चित्रण वाजपेयी जी के चरित्रों में मिलता है।

समय के सोपान पर बढ़ता हुआ मानव यदि नयी मान्यताओं और व्यक्तिगत अभिरुचियों के कारण अपने गुरुजनों के प्रति विद्रोह कर दे, तो इसे वाजपेयी जी स्वाभाविक मानते हैं। प्रश्न है जीवन की वाटिका को अपने अनुसार सजाने का। एक ओर रहता है पारिवारिक और सामाजिक अनुशासन का प्राकार और दूसरी ओर नव्य और आकर्षक को अपनाने की चाह। यही द्वन्द्व 'अधिकार का प्रश्न' उपन्यास के चरित्रों में उभरकर आया है। काशी बाबू, उपेन्द्र और देवेन्द्र के चरित्र नवीन और प्राचीन के संघर्ष में रत हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि चातक का पुत्र भी आदर्शों की प्रतोली से चले। बीसवीं सदी के पुत्र की उपज्ञा कितनी स्पृहणीय है ? नये आदर्शों और आधुनिक सभ्यता के संदर्भ वाले चरित्र पुराने आदर्शों का भारवाही जीवन क्यों बिताएँ। अपना-अपना जीवन, अपना-अपना गन्तव्य और जीने की कला में अपना-अपना पार्थक्य। यहाँ तक कि वाजपेयी ने डाके भी डलवाये हैं अपने उपन्यास में। 'उनसे न कहना' में जो डाका पड़ा है

उससे कई पुरुष चरित्रों का रूप सामने आता है—विजय, संख्या चार का युवक, बचानसिंह और गिरधारी आदि।

चिकित्सा और न्याय विभाग के चरित्र भी वाजपेयी जी के उपन्यासों में मिलते हैं। डाक्टर, नर्स, जज, मजिस्ट्रेट आदि के चित्रण प्रस्तुत किये गये हैं। जाने क्यों वाजपेयी जी अपने पात्रों के चित्रण में बड़ी तन्मयता और तत्परता से काम लेते हैं। जब तक उसका रूप पाठक के सम्मुख साकार न हो जाय तब तक लेखनी को चैन नहीं। चित्रण की दृष्टि से कुछ चरित्रों को देखा जा सकता है। ये सभी भारतीय समाज के अंग हैं। हाँ, कुछ अपने कल्याणकारी और अप्रतिम परिवेश में हैं और कुछ अकिंचन और असहाय दशा में पाये जाते हैं :—

"उनके पलंग के पास दैनिक पत्र, लिटरेरी डाइजेस्ट और हिन्दी, अँग्रेजी तथा गुजराती के अनेक साप्ताहिक तथा मासिक पत्र पड़े रहते। कभी-कभी वे रेडियो संगीत भी सुनते······मसनद के सहारे बैठे हुए फाउण्टेन को मस्तक से टिकाये हुए एक फीकी मुस्कराहट के साथ संयोग बाबू बोले—'जिस भगवान के नाम पर तुम यह बात उठा रहे हो उस पर मेरी कोई आस्था नहीं नयन, तुम इस बात को जानते हो।' "

**—टूटा टी सेट, पृष्ठ १४८, १५०**

"पंडित बिहारीलाल पुरानी पीढ़ी के व्यक्ति थे। अवस्था यद्यपि पचास पार कर गयी थी, किन्तु काठी उत्तम थी और केश भी बहुत कुछ काले बने हुए थे। वर्ण गेहुआँ, नाक लम्बी और आँखें प्रभावशाली थीं। जब गंभीर हो जाते तो मस्तक पर तीन रेखाएँ बन जातीं। जब हँसने लगते तो मुँह में भरी हुई तम्बाकू का एकाध बूँद टपक जाता और बायें कंधे पर पड़े हुए गमछे का उपयोग मुँह पोछने के लिए अनिवार्य हो उठता। आगे के दांत और दायीं ओर की दाढ़ गिर गयी थी। खाना खाने में तो कोई कष्ट न होता था किन्तु इतना वे अनुभव करने लगे थे कि यमराज के घर से पहला सूचनापत्र तो मिल ही गया है।"

**—उनसे न कहना, पृष्ठ ७५**

"रंजन का व्यक्तित्व विशेष आकर्षक न था, पर वह मेधावी बहुत था। वर्ण गेहुआँ था और शरीर गोल-मटोल। सिर के केश प्रायः खड़े रहते। कान के पास जहाँ कलम का कट होता है वहाँ क्रमहीन केश यह बतलाते रहते कि मैं ही तो इस व्यक्ति की स्वच्छन्द प्रकृति का प्रतीक हूँ।"

**—चन्दन और पानी, पृष्ठ २६**

"परमेश्वरी दयाल गोकुल सुकुल की ससुराल के बड़े उत्साही सदस्यों में थे। आप की प्रशंसा यह थी, कि आप सदा ओखली के भीतर और चोट के बाहर रहते। आप का पूरा परिचय यह था कि शारीरिक हो चाहे मानसिक, प्रत्यक्ष हो चाहे परोक्ष, लाभ के नाम पर आप कोई भी कार्य सहर्ष कर सकते थे।"

**—भूदान, पृष्ठ ६१**

बिहारी बाबू के स्वगत चिंतन में उनका चरित्र बोल रहा है। कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

"भगवान की लीला और विचित्रता पर आश्चर्य प्रकट करने से पहले अगर हम अपने ऊपर भी विचार कर लिया करें तो मेरा ख्याल है कि कोई झंझट ही न पैदा हो। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि अपने आते हुए संकटों के मूल में अपनी सकर्मक मानसिक अवस्था ही प्रधान रहती है। मानव प्रकृति की नाना गतियाँ हैं। किस-किस अवस्था पर विचार करूँ। कभी-कभी ऐसा भी होता है, कि चोरी हम खुद करवाते हैं; पर संसार को धोखा देने के लिए पूछताछ और अनुसंधान के समय उपस्थित जनता के सामने स्वयं हमारे मुँह से निकल जाता है—यह चोरी हो कैसे गयी—बड़े आश्चर्य की बात है।"

**—विश्वास का बल, पृष्ठ ६८**

"काशी बाबू ने उत्तर दिया—'तुम कोई नई बात नहीं कह रहे हो। उसने मेरा अपमान किया है, अपनी माँ का अपमान किया है। इस बात में पहले से इतना और निहित है कि उसने सारे परिवार का अपमान किया है। और मैं कहता हूँ किया है अपमान, लेकिन इतना और समझ लो कि यह समस्या का केवल एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि हमारे पारस्परिक सम्बंध का प्रश्न नहीं है। प्रश्न केवल वयस्कता के अधिकार का है और जब अधिकार का प्रश्न उठेगा तब मेरी स्थिति पिता की न होगी, उपेन्द्र की माँ की स्थिति उसकी माँ की न होगी। और कुन्दन बाबू, कान खोल कर सुन लो, तुम्हारी भी स्थिति बहनोई की न होगी, क्या बात करते हो मुझ से ? बचपना किया है, तो मेरे लड़के ने किया है, और तुम्हारे साले ने किया है, किसी शत्रु ने नहीं किया है।'"

**—अधिकार का प्रश्न, पृष्ठ २८**

ये जितने उद्धरण चरित्रों के सम्बंध में प्रस्तुत किये गये हैं—प्रायः स्थिर हैं। पूरी कृति में इनका यही रूप बना रहता है। यदि परिस्थितियाँ परिवर्तन

की दिशा में इन्हें मोड़ती भी हैं तो अप्रत्याशित परिवर्तन कम दिखायी पड़ते हैं। ये समस्त चरित्र अपनी बहुरंगी दुनिया के हैं। मनोविज्ञान के युग में अपने चरित्रों का आकलन करने में वाजपेयी जी ने मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं और स्थितियों का सहारा लिया है। चित्रण भी उसी प्रकार का है।

वाजपेयी जी द्वारा अपने उपन्यासों में चित्रित चरित्रों की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

१. प्राय: ये चरित्र मानवतावादी हैं।

२. इनमें नये और पुराने विचारों की 'गंगा-जमुनी' है।

३. स्थिर, निर्मित और विकसित रूपों में ये पाये जाते हैं।

४. पात्रों के चित्रण, वर्णन या उद्घाटन मनोवैज्ञानिक आधार पर किये गये हैं।

५. सशक्त और अशक्त दोनों प्रकार के चरित्र मिलते हैं।

६. समाज के प्राय: सभी रूपों की झाँकी चरित्रों द्वारा मिल जाती है।

७. वाजपेयी जी के उपन्यास प्राय: चरित्रप्रधान हैं।

८. चरित्र-चित्रण की शैली आकर्षक है। उसमें रूखापन और दुरूहता नहीं पायी जाती।

९. कतिपय पात्र यथार्थ और आदर्श चित्रित करने के लिए रचे गये हैं।

१०. चरित्रों के ऊपर वैज्ञानिक युग का प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है।

इस निष्कर्ष के पश्चात् अब यह देखना है कि अपने चरित्रों के चित्रण में लेखक कहां तक मानवतावादी रहा है? लोकमंगल की साधना के पथ पर वह कहाँ तक चला है? यह बात प्रकारान्तर से हो चुकी है कि वाजपेयी जी मानवतावादी लेखक हैं। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में उन्होंने जो चरित्र प्रस्तुत किए हैं उनमें लेखक का दृष्टिकोण मानवतावादी रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं यह दृष्टिकोण यथावत् अभी अपने मार्ग पर चल रहा है। उनके चरित्र यौन भावनाओं के प्रतीक नहीं, जनजीवन को अध:पतन की ओर ले जाने वाले विलासिता के पुतले नहीं, अपितु उनका उद्देश्य समाज का मंगल है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए यदि विरोधी चरित्रों की आवश्यकता पड़ी है तो वाजपेयी ने इसी समाज से उनको भी चुना है। हाँ, इतना अवश्य है कि परिस्थितियों का स्पर्श उनके लौह व्यवहार को कंचन कर देता है। यही उपन्यासकार की उपलब्धि है।

इसी प्रसंग में चरित्रों में पाये जानेवाले प्रेम-विकास से भी अवगत होना है। प्रेम के सम्बंध में वाजपेयी जी की अपनी एक धारणा है। वैसे तो उनके यहाँ चरित्र को प्रेम करने की स्वतंत्रता है, किन्तु स्वच्छन्दता के पक्षपाती वे नहीं हैं। दो सम्बधी, परिचित और अपरिचित के प्रेम सम्बंध कैसे विकास पाते हैं इसके लिए कुछ प्रेमियों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

विवाहित पात्रों का जो प्रेम वाजपेयी जी ने चित्रित किया है वह मुख्य रूप से दो प्रकार का है—

(१) स्थिर और अविकल

(२) परिस्थितियों से प्रभावित

स्थिर और अविकल प्रेम स्वकीयाओं की ओर से अधिक है, जब कि पुरुष चरित्र परिस्थितियों से प्रभावित है। उनके प्रेम पर स्वभाव का भी प्रभाव है। 'विश्वास का बल' उपन्यास में लक्ष्मी त्रिवेणी की विवाहिता पत्नी है। वह त्रिवेणी को चाहती है—और केवल इतना ही नहीं—त्रिवेणी के असंयमी जीवन के प्रति खेद प्रकट करती है। इसके विपरीत त्रिवेणी रमा को चाहता है। कभी-कभी तो रूप के बाजार में क्या खरीदे क्या छोड़े, इसकी समझ में नहीं आता। रमा का चरित्र परिस्थितियों से कितना प्रभावित होता है। यहाँ तक कि उसे अपने पति राजीव के प्रति विरक्ति हो जाती है और वह त्रिवेणी की हो जाने का स्वप्न देखने लगती है। और अन्त में उसे पुनः राजीव मिल जाता है। 'सूनी राह' में प्रेम का त्रिकोण देखिए—करुणा का विवाह सत्य बाबू के साथ हो गया है। दोनों में अनबन है। प्रेम वहाँ नहीं है। करुणा अपने छोटे भाई के ट्यूटर निखिल से प्रेम करती है। निखिल भी करुणा के प्रति आकर्षित है। करुणा सत्य बाबू की स्वकीया है और निखिल की परकीया। चित्रण की दृष्टि से परकीया के प्रेम का विकास जितना सुन्दर 'सूनी राह' में है उतना वाजपेयी जी के किसी अन्य उपन्यास में नहीं है। और मैं तो सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यास साहित्य में इसके स्वरूप को बेजोड़ मानता हूँ। अन्त में इसका पर्यवसान बड़ा हृदयद्रावक और मंगलमय है। करुणा निखिल के साथ जाते-जाते सत्य बाबू के साथ हो लेती है। पाठक को इस घटना का पूर्वाभास नहीं मिल पाता है। यही तो उपन्यासकार की कला है।

अब 'निमंत्रण' के प्रेम को लीजिए। यहाँ भी एक प्रकार का त्रिकोण ही चलता है। रेणु गिरधारी की विवाहिता पत्नी है। वह गिरधारी के प्रति आस्था रखती है। जबकि गिरधारी अपनी गृहस्थी के झंझटों से परेशान है। उसका परिचय मालती नाम की स्त्री से है। केवल परिचय ही नहीं—बातचीत, घूमना,

टहलना सभी कुछ। इस सम्बन्ध में उपन्यासकार लिखता है—"आशंकाएँ उथल-पुथल मचाने में आगे-आगे चलती हैं, चाहे प्यार की हों, चाहे ईर्ष्या-द्वेष की। किन्तु एक आशंका ऐसी भी होती है जो आगे चलकर भी पीछे देखते चलती है।" रेणु को मालती के प्रति आशंका हो जाती है। वह प्रकट रूप से कह नहीं पाती। विनायक और मालती का प्रथम मिलन भी शंका उत्पन्न करता है।

चरित्रों की रचना में प्रेम की आधार-भूमि पर नये-नये मोड़ उपस्थित करना वाजपेयी जी खूब जानते हैं। हाँ, प्रेम का कुत्सित और घृणित रूप उन्हें रुचिकर नहीं। वे जिस प्रेम के पक्षपाती हैं उसी के अनुरूप अपने पात्रों को रच लेते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि वाजपेयी जी की कृतियों में मुख्य रूप से दो रूपों का प्रेम मिलता है—

(१) आदर्शवादी भावभूमि का प्रेम।
(२) यथार्थवादी स्थिति का प्रेम।

यथार्थवादी स्थिति वाले प्रेम में उनके उपन्यासकार को प्रेम की विविध प्रक्रियाएँ मान्य हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने सीमा भी पार कर ली है; किन्तु ध्यान इस बात का रखा गया है, कि आदर्शवादी भावभूमि पर चित्रित चरित्र संयम और मनोबल में अनुपम हैं। इस शैली में वाजपेयी जी हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते।

साहित्य जगत में फ्रॉयड ने एक झमेला खड़ा किया है। इससे कुछ लोगों ने राहत की साँस ली है। अब तो महामहिम चरित्रों को मैंने यह कहते सुना है—"फ्रॉयड ने कह तो दिया है कि प्रेम किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं मानता। माता, बहिन, भाभी, पिता, भाई ये सभी सम्बन्ध प्राचीन परिपाटी के जीर्ण ढूह हैं। इनका प्रभाव कभी नहीं पड़ता। वाजपेयी जी ने अपने चरित्रों में इस स्वच्छन्दता से काम नहीं लिया है। यद्यपि हिन्दी उपन्यास साहित्य में ऐसी कृतियों की कमी नहीं है, किन्तु वाजपेयी जी के यहाँ ऐसे चित्रण नहीं हैं। प्रेम की स्वाभाविकता को मानते हुए वे यह भी तो कहते हैं कि प्रेम की एक लाज होती है। यही उनके चरित्रों की विशेषता है। यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है, कि वाजपेयी जी के अधिकांश उपन्यासों का आधार भारतीय प्रेम है। और यही कारण है कि चरित्रप्रधान उपन्यास की रचना में वे बाजी मार ले गये हैं।

लोक की सामयिक परिस्थितियों का रूप निर्दिष्ट करने वाले चरित्रों की संयोजना के साथ-साथ वाजपेयी जी ने ऐसे चरित्रों का भी निर्माण किया है जो मानसिक उलझनों से आक्रान्त हैं। बात भी सच है—केवल सामाजिक समस्याओं का चित्रण करते रहना ही हमारा अभीष्ट नहीं होना चाहिए। इसीलिए समाज

के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए भी वाजपेयी जी का लेखक व्यक्ति चित्रण में अधिक रुचि लेता है। और एक बात हमें ध्यान में और रखनी चाहिए, कि जो लोग इस मान्यता के पक्षपाती हैं कि बोलना, हँसना, खाना, पीना, प्रेम करना, रोना, गाना, बजाना तथा जीवन के विविध खेल अपने आदर्श रूप में सिनेमा में पाये जाते हैं—वे भ्रान्त हैं। उन्हें यह जानना चाहिए कि हमारी तमाम सारी व्यावहारिकता, जिसका प्रभाव हमारे चरित्र पर पड़ता है, हमारी जनता के मध्य पायी जाती है। वाजपेयी जी के चरित्रों में सामान्य लोकजीवन की व्यावहारिकता अधिक पायी जाती है। सिनेमा-सरोवर के घाट पर यह भी गये थे एक बार। उस दर्शन—और एकमात्र दर्शन का प्रभाव इनके चरित्रों पर पड़ा है। वस्तुतः पात्रों की स्वाभाविक गतिविधियाँ तो मन को भाती हैं, चाहे वह लोक जीवन से सम्बन्धित हों अथवा सिनेमा से; किन्तु अस्वाभाविक चित्रण तो उपन्यास का अवमूल्यन कर देता है। वाजपेयी जी के चरित्र अधिकतर सामान्य जनजीवन के हैं। उनसे आज का पाठक और युग अपरिचित नहीं है। उनकी सजधज जितनी ऊपर की है उतनी ही अन्दर की। ऐसा नहीं है कि चरित्रों का रूप बाहर से देखने में बड़ा आकर्षक हो और अन्दर से स्पन्दनहीन और मूक। अँग्रेजी साहित्य में वर्जीनिया वुल्फ के उपन्यासों में यही बात पायी जाती है। बाहर की चमक-दमक अधिक और अन्तस्थ आकर्षण कम। यही कारण है कि उनके प्रशंसकों की जितनी संख्या होनी चाहिए उतनी नहीं है। जिस प्रकार डिकेन्स के उपन्यासों में लन्दन की गलियाँ और थैकरे के उपन्यासों में क्लब और ड्राइंगरूम हैं उस प्रकार की कोई विशेषता यदि वाजपेयी जी में है तो यही कि पात्रों का चुनाव सामान्य जनजीवन से हुआ है जिसको वाजपेयी जीते हैं और अधिकांश जनता जीती है।

चरित्रों की सृष्टि में वाजपेयी जी की निपुणता देखने के लिए 'चलते-चलते', 'विश्वास का बल', 'राजपथ', 'टूटते बंधन', 'सूनी राह', 'अधिकार का प्रश्न' तथा 'भूदान' आदि प्रमुख कृतियाँ ही पर्याप्त होंगी। जैसे सृष्टिकर्त्ता द्वारा निर्मित मानव मूर्तियाँ परस्पर एक जैसी नहीं वैसे ही वाजपेयी जी द्वारा रचे गये चरित्रों की विविधता भी द्रष्टव्य है। यह उपन्यासकार की कुशलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। उसकी अनुभूतियों का भण्डार और कल्पना-शक्ति का स्रोत इतना विविधरूपात्मक है कि पाठक को ऊबने नहीं देता। चरित्रों की नित्य नवीनता ही उपन्यासों की विशेषता बढ़ाती गई है।

---

# ५ शिल्प और शैली

एफ० मैरियन क्राफॅर्ड ने लिखा है कि मसिजीवी लेखक को अपने लेखन-कक्ष में उसी प्रकार कार्य करना चाहिए जैसे कि एक कारीगर अपने कारखाने में काम करता है। जिस प्रकार मध्याह्न में कारीगर आराम करता है, भोजन ग्रहण करता है उसी प्रकार लेखक को भी अपनी व्यवस्था करनी चाहिए। और इसके पश्चात् उसे पुनः अपने काम में जुट जाना चाहिए। जो लेखक अवसर पाकर संयोगवशात् लिखने बैठते हैं वे 'अधिक' और 'अच्छा' नहीं दे पाते। इस बात के सन्दर्भ में जब हम उपन्यासकार की स्थिति पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि उपन्यास की रचना 'क्षण-चिन्तन' के आधार पर संभव नहीं होती। कहानी की बात तो और है; क्योंकि वहाँ जीवन का अंश चित्रित किया जाता है। मन में उपन्यास के चरित्र की रूपरेखा का संयोजन करते-करते महीने बीत सकते हैं, वर्षों का समय लग सकता है। हाँ, जहाँ तक बीज की बात है, उसका वपन तो एक क्षण के अन्दर हो सकता है।

कतिपय लेखकों के लिए उपन्यास की रचना मनोरंजन का साधन है। जीवन-पथ पर चलते-चलते जब उन्हें मनोरंजन की आवश्यकता हुई—लिखना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु कुछ उपन्यासकारों की धारणा है, कि उपन्यास की रचना में सारा लहू निचुड़ जाता है। वाजपेयी जी उपन्यास-रचना के नियमित लेखक हैं। वर्षा हो या धूप, जाड़ा हो या गर्मी उनका कार्य सदैव चलता रहता है। व्यवधान पड़ने पर भी वे सजग रहते हैं। वे नियमित रूप से कुछ-न-कुछ लिखते रहते हैं। यहाँ यह देखना है कि उन्होंने अपनी रचना प्रक्रिया में किस प्रकार के शिल्प का प्रयोग किया है ?

पीछे हम यह बता चुके हैं कि वाजपेयी जी के पात्र सामान्य जनजीवन के हैं और उनसे आपकी भेंट कहीं भी हो सकती है। साथ ही यह भी निश्चय हो चुका है कि वाजपेयी जी के उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। एक चरित्र के विकास-क्रम में कभी-कभी अन्य आनुषंगिक कथाओं और चरित्रों की रचना करनी पड़ती है। यह बात वाजपेयी जी के उपन्यासों में पायी जाती है। एक मुख्य चरित्र के वर्णन को स्वाभाविक रूप से वाजपेयी जी आगे बढ़ाते चलते हैं। उन्हें

बीच में किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ती। उपन्यास का प्रारम्भ करना और पूर्णरूपेण उसका निर्वाह करना—यह लेखक की विशेषता है।

'प्रेम-पथ' से लेकर 'अधिकार का प्रश्न' तक के उपन्यासों को देखने से प्रतीत होता है कि कुछ कृतियाँ जल्दी में लिखी गयी हैं और कुछ में पर्याप्त समय लगा है। कौशल का रूप भी समय के अनुपात में पाया जाता है।

वाजपेयी जी की प्रारम्भिक कृतियाँ आकार में बड़ी नहीं हैं। वे जिस पात्र अथवा समस्या का आधार लेकर लिखी गयी हैं उसके समापन के पश्चात् कृतियों का अन्त हो जाता है। महोपन्यास (Epic Novel) तो वाजपेयी जी ने अभी तक नहीं लिखे; किन्तु शिल्प की दृष्टि से 'विश्वास का बल', 'राजपथ', 'चलते-चलते', 'उनसे न कहना', 'यथार्थ की ओर', 'सूनी राह', 'टूटा टी सेट', 'टूटते बंधन', 'अधिकार का प्रश्न' आदि का विशेष महत्त्व है। प्रारम्भिक कृतियों को देखने से यह निष्कर्ष निकलता है, कि जैसे लेखक किसी शिल्प विशेष की तलाश कर रहा हो, किन्तु बाद की कृतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक का स्वाभाविक लेखन उसके शिल्प-विधान को एक रूप देता चलता है। चलते-चलते' का शिल्प आत्मकथात्मक शैली में है। सारी घटनाएँ क्रमबद्ध हैं। उनमें मध्यान्तर नहीं पाया जाता। पाठक को रुकना नहीं पड़ता। वस्तुतः चिन्तन का अवकाश इस उपन्यास में नहीं— अपनी प्रवाहमयता के आधार पर यह चलते-चलते पढ़ा जा सकता है। किसी-किसी उपन्यास में चरित्र पर अधिक बल देकर घटना को गौण स्थान दिया गया है और किसी में इसके विपरीत बात पायी जाती है।

किसी भी उपन्यास की रचना कैसे हो, उसके पात्र किस कोटि के हों, उसकी भाषा कैसी हो, घटनाओं का संयोजन कैसे किया जाय, आदि और अन्त का रूप क्या हो, चरित्रों का नामकरण कैसा हो, किसी वातावरण के चित्र को मनोहारी कैसे बनाया जाय—इन बातों के प्रति वाजपेयी जी का लेखक सजग रहता है। अपनी रुचि को प्राथमिकता देने के साथ-साथ वे पाठकों का भी ध्यान रखते हैं। इस बात का तात्पर्य यह है, कि अपनी रुचि के अनुसार वाजपेयी जी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं; किन्तु वह चित्रण जो समाज के अन्तस्तल को न चित्रित करके बाह्य रूप को अधिक दर्शाता है, वाजपेयी जी के उपन्यासों में सर्वत्र पाया जाता है। मेरा मन्तव्य यह नहीं कि सामान्य पाठक मनोवैज्ञानिक चित्रणों में आनन्द नहीं लेता। यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। उपन्यास साहित्य के एक कुशल शिल्पी होने के नाते वाजपेयी जी की कृतियों का शिल्प लचर और लुंज-पुंज नहीं है। उसकी संयोजना में प्रौढ़ता है और रूप में आकर्षण।

अब आइए शैली की ओर जिसे कभी भी लेखक से पृथक् नहीं किया जा सकता। उसके व्यक्तित्व की छाप निरन्तर उसकी शैली पर पड़ती रहती है।

किसी भी उपन्यास को प्रारम्भ करने की शैला पर हम 'वस्तु-संयोजन' वाले प्रसंग में विचार कर चुके हैं। अतएव यहाँ मुख्य बातें बताना ही समीचीन होगा। प्रायः देखा जाता है कि वाजपेयी जी किसी भी उपन्यास को प्रारम्भ करने से पहले अपना मन्तव्य देते हैं। उपन्यास का उद्देश्य उस मन्तव्य अथवा प्राक्कथन में प्रकट हो जाता है। यद्यपि सभी कृतियों के सन्दर्भ में यह बात नहीं लागू होगी किन्तु उपन्यासकार के अपने विचार पाठक को एक प्रकार का सहारा देते हैं। निजी मन्तव्य जिन उपन्यासों में दिये गये हैं उनमें से कुछ यहाँ बानगी के लिये दिये जा रहे हैं—

> "सफलता मनुष्य के सतत प्रयत्न, परिश्रम और जीवन के सर्वस्व समर्पण की अनुचरी है, दासी है। यह तो बात ही दूसरी है कि जिसको एक सैनिक या योद्धा सफलता मानता है, कोई व्यक्ति कभी-कभी नाक-भौं सिकोड़ता हुआ उसको असफलता मान बैठता है। यह भी एक दृष्टिकोण मात्र है कि सफलता को अंतिम सीढ़ी मानते समय हम यह समझने लगते हैं कि उसके नीचे की जितनी भी सीढ़ियाँ हैं, वे सब असफलता की हैं। जबकि वास्तव में वे सब सीढ़ियाँ भी सफलता तक पहुँचाने वाली उसकी सम्बन्धित, निकटस्थ और आत्मीय सीढ़ियाँ होती हैं।"
>
> **—यथार्थ से आगे, पृष्ठ 'ग'**
>
> "बहुतेरे राजपथ कभी अस्तित्व में ही न आते, यदि उनके पीछे पगडंडियों के रूप में महापुरुषों और क्रान्तिकारियों के पदचिह्न न होते। इस उपन्यास में मैंने इन्हीं प्रश्नों का समाधान उपस्थित करने की चेष्टा की है।"
>
> **—राजपथ (अन्तर्नाद), पृष्ठ ७**
>
> "आज की पीढ़ी की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह अधिकारों के उपभोग पर ध्यान अधिक रखती है, मानवीय कर्त्तव्य-भावना का ध्यान बहुत कम। मैंने इस उपन्यास में इसी समस्या को प्रमुख रूप से उभारने की चेष्टा की है, क्योंकि यह मानने को मेरा जी नहीं चाहता कि यह संसार सदा से ऐसा ही रहा है।"
>
> **—अधिकार का प्रश्न (अपनी बात), पृष्ठ ५**
>
> "तो यह उपन्यास प्रकारान्तर से हमें यह बतलाता है कि बड़े-से-बड़े

और ऊँचे मानव-चरित्रों का निर्माण भी किसी मानवीय दुर्बलता की पृष्ठभूमि में होता है। उच्च-चरित्र उसी मार्मिक घटना की रंगभूमि में जन्म लेता, पनपता, दिनानुदिन विकसित होता, पथ खोजता और उसका निर्माण करता हुआ सदा अग्रसर होता रहता है।"

**—विश्वास का बल (मन्तव्य), पृष्ठ 'ख'**

इन उद्धरणों से यह पता चलता है कि अपनी कृति के सन्दर्भ में लेखक रचना प्रारम्भ करने के पहले एक मन्तव्य दे देता है। कभी-कभी तो कृति का उद्देश्य कह जाता है और कभी रचना की पृष्ठभूमि में काम करने वाली प्रेरणा की बात सामने आती है। यह शैली पाठकों के लिए लाभकारी इसलिए है, क्योंकि वह एक धारणा बना लेता है जिससे एक प्रकार का सहारा पाकर उपन्यास के अध्ययन में वह आगे बढ़ता चला जाता है। एक शैली यह भी है, कि पाठक को संकेत-सूत्र न दिये जायें, वह अपनी धारणा स्वयं बनाये। वाजपेयी जी का सुप्रसिद्ध उपन्यास 'सपना बिक गया' इसी कोटि में आता है। 'टूटा टी सेट' में भी प्रारम्भ में कुछ नहीं कहा गया है।

'चलते-चलते' उपन्यास को प्रारम्भ करने की शैली अत्यन्त आकर्षक है। पाठक की जिज्ञासा को उपन्यास का प्रारम्भ ही उत्तेजित करता है। पहले तो एक कल्पित कथा की संयोजना की है जो परम दार्शनिक हो गई है। किन्तु बाद में उसी कथा से उपन्यास के सूत्र निकाले गये हैं। कहानी इस प्रकार है—

"एक दिन की बात है, गगन अपना प्रशस्त लोक देख रहा था। इतने में पवन बड़े वेग से चलने लगा। गगन ने मेघ का चश्मा निकाला और आँखों पर चढ़ा लिया।

उसके बाद कुछ ऐसा हुआ कि पवन और भी वेग से चलने लगा; बल्कि एक तरह से अन्धड़ ही आ गया। यहाँ तक कि गगन के लिए स्थिर रहना तक कठिन हो गया। तब वह एक पहाड़ के नीचे खड़ा हो गया। उसके बाद जब धीरे-धीरे अन्धड़ शान्त हो गया तो पवन गगन के निकट जा पहुँचा।

उस समय गगन अपनी आँखें मिचमिचा रहा था।

पवन ने पूछा—"दादा क्या हुआ ?"

गगन ने उत्तर दिया—"कुछ नहीं आँख में तिनका पड़ गया था।"

"तिनका पड़ गया था !" पवन के कथन में आश्चर्य था।

"फिर निकला कि नहीं ?" उसके प्रश्न में चिन्ता की झलक थी।

गगन बोला—"तिनका तो निकल गया; किन्तु देर तक वह आँख में पड़ा जो रहा, उसका प्रभाव अब तक नहीं गया है।"

पवन ने उत्तर दिया—"बड़े बदमाश हो गये हैं ये तिनके ! देखो तो आप जैसे तपस्वी को भी ये तंग करने लगे ! अच्छी बात है। मैं उन्हें आज ही ठीक किये देता हूँ। ज्योंही आज वे घर आये, मैं उन्हें कुएँ में बाँध कर उलटा लटका दूँगा !"

गगन मन ही मन मुसकराने लगा। कहा कुछ नहीं उसने।

संध्या हुई, रात आयी। तिनके भी घर पहुँचे। पवन ने एक से पूछा—'आज किस देश की ओर बढ़ गया थे रे ?"

तिनका आश्चर्य में पड़कर बोला—"बाबू यह क्या पूछ रहे हो आज ! मैं तो सदा तुम्हारे ही संकेत पर उड़ता हूँ।"

इतने में किसी का अट्टहास फूट पड़ा।

पवन ने इधर देखा। उधर देखा। जब उसे कहीं कोई न दीख पड़ा तो उसके मुँह से निकल गया—"यहाँ इस तरह छिपकर कौन हँस रहा है ? जो कोई भी हो सामने आ जाय।"

गगन ने सामने आकर उत्तर दिया—"मैं हूँ गगन। मैं हँस इस बात पर रहा था कि इधर नये युग ने बड़ी प्रगति की है।"

पवन को गगन के इस कथन में असंगति का कुछ भान हुआ। इसलिए उसने पूछा—"पर इसमें हँसने की क्या बात है दादा ?"

गगन ने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कह दिया—"यही कि ये तिनके जो अब बड़े वीर बन गये हैं—अपने पिता पवन के संकेत पर उड़ते खूब हैं।" और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह अन्तर्धान हो गया।"

यहाँ पवन के स्थान पर 'राजनीति' और गगन के स्थान पर 'साहित्य'—बस, इतना संशोधन आप स्वीकार कर लें तो मुझे यह बतलाने में सुविधा होगी कि इस उपन्यास लेखन की प्रेरणा का यही एक मुख्य आधार है।

केवल इतना ही नहीं, इसी के साथ 'पूर्वकथा' का संयोजन भी किया गया है। यह शैली अन्य उपन्यासों में नहीं पायी जाती है। पूर्वकथा के सूत्र अन्त में मुख्य कथा के सूत्रों के साथ जोड़ दिये जाते हैं। हिन्दी उपन्यास कला में वाजपेयी जी द्वारा यह अभिनव प्रयोग है।

जिस प्रकार उपन्यासों के 'अथ' के विभिन्न ढंग हैं उसी प्रकार उनकी 'इति' में अनेक रीतियाँ अपनायी गयी हैं। 'फिर सब का राजपाट लौटा' वाली शैली वाजपेयी जी को नहीं भाती। अन्त के सम्बंध में वे नित्य नवीन दृष्टिकोण लाने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी कथा चलते-चलते रुक जाती है और कभी किसी महापुरुष के आदर्श वाक्य से अन्त कर देते हैं। 'विश्वास

का बल' उपन्यास का अन्त कथा चलते-चलते बीच में रमा के कथन द्वारा हुआ है। 'टूटा टी सेट' में अन्त में नीलकमल सोच रही है—"बापू ने कहा था—'गुप्त हो या स्पष्ट, प्रेम की स्वतंत्र सत्ता में मेरा विश्वास नहीं है।" 'चलते-चलते' का अन्त निष्कर्ष देकर, 'यथार्थ से आगे' का अन्त समस्या का निदान ढूँढ़ कर, 'राजपथ' में कथा को समेट कर उपन्यास का अन्त किया गया है। 'सपना बिक गया' के अन्त में है—पात्र विशेष की आत्माभिव्यक्ति। 'टूटते बंधन' में कहानी बीच से टूट गयी है। 'कपट निद्रा' के अन्त में एक प्रकार का चमत्कार है।

अपने उपन्यासों की रचना में वाजपेयी जी ने सुभाषितों और सूत्रों का प्रयोग भी किया है। कहीं तो ये सूत्र वक्ता के व्यक्तित्व की व्याख्या करते दिखाई पड़ते हैं और कहीं लेखक की शैली का संकेत देते हैं। कुछ स्थल ऐसे भी आये हैं जहाँ सूत्र अथवा सुभाषितों के प्रयोग पाठक को यह सोचने के लिये बाध्य कर देते हैं, कि कहीं उपन्यासकार उपदेशक तो नहीं हो गया है। ये सुभाषित दो प्रकार के हैं—एक तो वे जो महापुरुषों के कथन हैं और दूसरे वे जिन्हें लेखक ने अपनी आवश्यकतानुसार रच लिया है। आदर्शवादी चरित्रों के माध्यम से जो सुभाषित कहलवाए गये हैं उनसे पाठक को शिक्षा तो मिलती है; किन्तु भारतीय धर्म साधना और नीति शास्त्र के अन्तर्गत भी तो ये बातें मिल सकती हैं। उपन्यासकार और धर्मोपदेशक में बहुत अन्तर होता है। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं कि वाजपेयी जी का उपन्यासकार धर्मोपदेशक है। कारण यह है कि ऐसी परिस्थितियाँ उनके उपन्यासों में बहुत कम आयी हैं।

वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार वाजपेयी जी का उपन्यासकार दार्शनिक शब्दावली में कभी-कभी कुछ कहता है। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी उपन्यासों में पायी जाती है। इससे एक तो लेखन में गंभीरता आती है और दूसरे चरित्र विशेष का दृष्टिकोण सामने आ जाता है। कभी-कभी दार्शनिकता वाली शैली पाठक को अखरती भी है। वह तो अबाध गति से अपना गन्तव्य पाना चाहता है। परिणाम पाने की उत्सुकता में वह दार्शनिकता में उलझना नहीं चाहता। वह नहीं चाहता, कि केवल आकाश की तारिकाओं की चमक पर लेखक एक लम्बा-सा दार्शनिक भाषण दे जाए। यहाँ कुछ दार्शनिक प्रसंगों पर विचार कर लेना समीचीन होगा। विभिन्न कृतियों के कुछ स्थल उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत हैं—

"काल किसी के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं करता। उसके चरण जब धरती के ऊपर चलते हैं, तब धरती रोती है और काल अट्टहास

करता है। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है, जब इतिहास करवट लेते हैं, धरती जागती है तो काल रोने लगता है। मनुष्य की प्रत्येक इच्छा काल की अनिच्छा है। उसकी प्रत्येक महत्त्वाकांक्षा काल का रुदन है; आक्रोश और घृणा है। और यह कितनी विचित्र बात है कि मनुष्य सब कुछ जानते हुए भी यह भूल जाता है कि वह काल के अनुशासन के परे नहीं।"

—राजपथ, पृष्ठ ८०

"कहते हैं प्रकृति की ममता बड़ी विलक्षण होती है। तभी तो बच्चे को जन्म दे लेने के बाद माँ की छाती दूध से फूट पड़ती है। लेकिन वही प्रकृति कभी-कभी इतनी निर्मम हो जाती है कि बच्चे को जन्म देते ही प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। स्वस्थ और धनी माता-पिता की उपस्थिति में एक दूध क्या, पालन-पोषण के सभी साधन रहने पर भी हमारे देश में निरन्तर नित्य लाखों बच्चे समाप्त होते रहते हैं। पर माँ का दूध न पाने पर भी अहीर-गड़रियों के बच्चे भी अवसर पनप जाते हैं।"

—चलते-चलते, पृष्ठ ४३८

"संसार में कुछ व्यक्ति एक विशेष प्रकृति के होते हैं। वे अपने मन में एक मोह पाले हुए रहते हैं। मान-अपमान, प्रतिष्ठा और कीर्ति हानि के बीच में वे एक दीवाल बनाकर रहते हैं। वे प्रत्यक्ष हानि देखकर तिल-मिला उठते हैं। ह्रास और अवनति का स्वप्न मात्र देखकर वे अप्रतिभ हो जाते हैं। उनका शौर्य और साहस, उनकी संलग्नता और प्रयत्न-शीलता की भावना मर जाती है। जैसे दो व्यक्तियों में जो पहले तमाचा खा जाता है, प्रायः फिर उसका हाथ नहीं उठता। और वह हाथा-पाई के युद्ध में प्रायः मार ही खाता रहता है। परन्तु दूसरे प्रकार के व्यक्ति बिल्कुल इसके विपरीत हुआ करते हैं। वे वीरता में, दर्प में, सर्प जाति के होते हैं कि एक बार छू-भर जाने पर अपना दंशाक्रोश व्यवहार में लाये बिना चूकते नहीं। अपमान उनके साहस को कई गुना बढ़ा देता है, अप्रतिष्ठा उनको हानि नहीं पहुँचा पाती। वे उस समय यह नहीं देखते कि परिणाम क्या होगा। ऐसे समय वे मरने-मारने पर तुल जाते हैं।"

—यथार्थ से आगे, पृष्ठ ३२९, ३३०

"पाप और पुण्य के इस स्वर्ग-निकुंज में यदि पुण्य की पाप पर

विजय होती है तो उसका यह कारण नहीं कि पुण्य एक सत्कर्म है। माना कि सत्य का पथ प्रशस्त है, पर हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि आँधी आने पर एक-दो काँटेदार झंखर मार्ग में आ ही जाते हैं। हो सकता है काँटे पैर में न चुभें, पर धोती तो वे फाड़ ही सकते हैं। तो मुख्य वस्तु है—शक्ति। अगर शक्ति के अभाव में हम कहीं अक्षम और दुर्बल हैं, तो सन्मार्ग पर चलते हुए ध्येय को प्राप्त करने में पिछड़ ही जायेंगे।"

—गोमती के तट पर, पृष्ठ २१६

ये समस्त उदाहरण भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के हैं। कभी तो लेखक अपनी दार्शनिकता किसी की डायरी में लिखवाता है और कभी वह परिस्थितियों का निष्कर्ष निकाल कर पाठकों के सम्मुख रखता है। जहाँ कहीं 'शॉर्ट कट' से काम लिया गया है वहाँ पाठक किसी भी प्रकार का बोझ नहीं अनुभव करता; किन्तु अनावश्यक रूप से दार्शनिकता के पर्वत पर यात्रा करने का लाभ कम पाठक प्राप्त करना चाहते हैं। 'राजपथ' की दार्शनिक वाक्यावली का प्रयोग कहीं-कहीं खटकता है किन्तु जीवन की व्याख्या, चरित्र का चित्रण, संवाद के प्रवाह, वातावरण के चित्रण में स्वाभाविक रूप से आये हुए दार्शनिक विचार पाठक को कुछ क्षण के लिए रोक कर यह कहते हुए प्रतीत होते हैं कि 'रुको मैं यहाँ हूँ।' इस शैली में प्रयुक्त कथन अधिकांशतः लेखक के अपने हैं। जहाँ कहीं महापुरुषों की शब्दावली आयी है वहाँ उनका नाम लेकर बात कही गयी है। गाँधी, विनोबा, टालस्टाय आदि के वाक्यों के सहारे लेखक ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है।

अपनी लेखन प्रक्रिया के प्रसंग में लिखते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है—"पक्षियों का कलरव और सामने बैठी चिड़ियों का फुदकना मुझे बड़ी प्रेरणा देता है।" केवल इतना ही नहीं, वाजपेयी जी का लेखक प्रकृति की मनोहारी दृश्यावली से द्रवीभूत और मुग्ध है। वह अवसर पाकर प्रकृति के सन्दर्भ में अपनी बात और अपने मन की बात कहने लगता है। पशु-पक्षियों के आनंद के आकर्षण के चित्रण की शैली के एकाध प्रसंग देखिए :—

(१) "इसी समय दो गौरैया वातायन पर बैठकर चूं-चूं करने लगीं।"

—सपना बिक गया, पृष्ठ १०३

(२) "पूरन का इतना कहना था कि सामने आकर एक बिल्ली मूंछें चाटती हुई बोल उठी—'म्याऊँ'।"

—विश्वास का बल, पृष्ठ ८६

(३) "वहाँ से दायीं ओर मुड़ने पर लॉन ठीक सामने पड़ता था जिस पर एक भेड़ का बच्चा उस समय हरी दूब पर थूथुन मार रहा था।"

—विश्वास का बल, पृष्ठ ११

(४) "दादा का तांगा खड़ा था। उसकी घोड़ी नथुने फुरक रही थी।"

—राजपथ, पृष्ठ ३१७

इन प्रसंगों से पता यह चलता है कि जहाँ जैसी परिस्थिति रहती है उसी प्रकार की प्रवृत्ति वाला कोई पशु अथवा पक्षी लेखक लाता है और उसमें अपनी कला का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार के चित्रण द्वारा वातावरण में एक प्रकार की गंभीरता आती है। ऐसे चित्रण वाजपेयी जी ने अपने उपन्यासों में कम दिये हैं किन्तु आवश्यकता और उपयोगिता की दृष्टि से वे पर्याप्त हैं। प्रकृति-वर्णन में भी लेखक ने अपना चाव दिखाया है। यद्यपि किसी भी कृति में प्रकृति-वर्णन अपने शुद्ध रूप में नहीं है, किंतु फिर भी विचारणीय बात यह है कि उपन्यास में प्रकृति-वर्णन का अवकाश कम रहता है। किन्तु फिर भी चित्रण के प्रसंगों में प्रकृति का सौन्दर्य और उसकी भयानकता का वर्णन आकर्षण पैदा करता है। वाजपेयी जी ने अपने उपन्यासों में आकाश की छवि, तारिकाओं की लुकाछिपी, वसंत की शोभा, धरती के विभिन्न प्रकार के प्रान्तर तथा हरीतिमा का वर्णन यत्र तत्र किया है। ऐसे अवसरों पर पाठक के हृदय में प्रकृति के प्रति एक जिज्ञासा और गुदगुदी पैदा होती है। वाजपेयी जी की शैली की यह विशेषता अपने में आकर्षक है।

अब आइए रूप-वर्णन की शैली की ओर। वाजपेयी जी की रूप-वर्णन की शैली विविध प्रकार की है। कभी तो वे केवल मुखमंडल की आभा का वर्णन करके चुप हो जाते हैं और कभी आपादमस्तक पूरा वर्णन प्रस्तुत करते हैं। पुरुष और स्त्री पात्रों के रूप-वर्णन में लेखक का समान अधिकार और चाव है। ऐसे पात्रों का रूप-वर्णन देखिए जिनमें कुछ न कुछ भिन्नता पायी जाती है। 'विश्वास का बल' उपन्यास के कुछ प्रसंग इस प्रकार है :—

"इतने में बदन पर मूँगिया शाल डाले हुए रमा श्वेत रेशमी साड़ी पहने हुए आ पहुँची। ग्रीवा के नीचे श्वेत ब्लाउज के मुँह पर फालसे के रंग के रूमाल का कलफदार कोना झलक रहा था। पैरों में श्वेत और मन्द श्याम पट्टियों से बना हुआ चप्पल था, जिस पर इन्हीं रंगों की चढ़ती उतरती धारें थीं।"

"श्री भवानीप्रसाद दैनिक 'उदय' के अंग्रेजी संस्करण 'मार्निंग न्यूज' के मुख्य सम्पादक थे। वे खादी का कुर्त्ता और खादी का ही पायजामा पहनते और सिर खुला रखते। वे स्वयं तो बंगाली न थे किन्तु उन्होंने अपना विवाह एक बंग नारी से किया था। वे सिगरेट बहुत पीते थे और ताश का रनिंग फ्लश खेल उन्हें बहुत पसन्द था। अवस्था छप्पन वर्ष की थी। दांत केवल दस रह गये थे। शेष सभी कृत्रिम थे। भोजन करने के बाद जब दांत साफ करते तो ऐसे जान पड़ते जैसे सत्तर वर्ष के हो चुके हों! मुख की रूपभंगिमा बिगड़ जाती और यदि उस समय दर्पण में अपना मुख देख लेते तो उसके अपरूप प्रभाव से किसी प्रकार अपनी रक्षा न कर पाते।"

अधिक उद्धरणों की आवश्यकता नहीं है। केवल इन्हीं दो से यह पता लगता है कि लेखक अपनी शैली के आधार पर एक चित्र बनाता है जिसकी छाप पाठक के हृदय पर पड़ती है। ऐसे चित्र उनकी सभी कृतियों में पाये जाते हैं। वर्णन की शैली से लेखक के सूक्ष्म निरीक्षण का पता चलता है। ब्लाउज में लगा हुआ रूमाल ही उसने नहीं देखा, उसे चप्पलों की वे रंगीन धारियाँ भी अपनी ओर आकर्षित करती हैं। किसी वृद्ध के गालों की झुर्रियों को भी लेखक ने देखा है, साथ ही देखा है रूप के उस लावण्य को जो देखते-देखते भारत के बाजार में बिक जाता है। इस बहुरंगी दुनिया के रूप का चित्रण करने में वाजपेयी जी ने अपने अनुभव और सजग निरीक्षण का यथेष्ट लाभ उठाया है। पिता, माता, पुत्री, भाई, बहिन, पुत्र तथा मित्रों के बहुविध चित्रों के साथ वाजपेयी जी के लेखक का एक चित्राधार ऐसा भी है जिसमें वकील, संपादक, अभिनेता, अभिनेत्री, चोर, डाकू, नेता, कलाकार, कवि, सेठ, विद्यार्थी, प्रोफेसर, पागल, राजकीय अधिकारी, समाज के ठेकेदार, पंडित और पुरोहित, पंडे और अन्य विलासी प्राणी, किसान और मजदूर आदि के रूप भी चित्रित हैं। इस विचित्र चित्रावली में मानव-मन कुछ क्षणों के लिए रमता है। दृश्य-विधान की शैली के अन्तर्गत वाजपेयी जी के एक चित्रण पर ध्यान दीजिए :—

"फातिमा चारपाई पर संज्ञाहीन लेटी हुई थी। उसका बिस्तर खून से तर था। फर्श पर भी काफी खून पड़ा था और बहुत-सा तो मोरी के रास्ते से बह भी गया था। उसके सिर के केश तकिये के ऊपर बिखरे पड़े थे। बॉडिस के ऊपर तिरछी पड़ी हुई उसकी महीन साड़ी चारपाई के नीचे तक लटक रही थी। उसकी कंधों तक खुली बाँहें सिरहाने की ओर फैली हुई दोनों पाटियों को छू रही थीं। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों

की पलकें बंद थीं और कपोलों तक ढुलकी हुई आँसू की बूँदें अभी तक सूख नहीं पायी थीं। उसके पान से लाल होंठ कुछ-कुछ काले पड़ रहे।··· उसके केशों में पड़ा हुआ इत्र पास जाते ही अपना गुलाबी परिचय दे उठता था। सामने की आलमारी में पानदान रखा था, जिसके ढक्कन पर रखा हुआ खुला पान अब सूख गया था। इस पानदान के पीछे रबर का एक हँसता हुआ बबुआ था जिसका उठा हुआ एक हाथ माँ को बुलाता हुआ-सा जान पड़ता था। उसके पास ही बुनने वाली ऊन की गुलाबी लच्छियाँ और चार अंगुल के बराबर बुने हुए भाग में गुँथी हुई उसकी सलाइयाँ पड़ी थीं। इस आलमारी के ऊपरी खाने में एक बड़ा शीशा था जिसके कोने में एक फोटोग्राफ चिपका हुआ था। यह फोटोग्राफ संभवत: उसके पति का था।"

**—राजपथ, पृष्ठ १३२**

यदि आप अपना कैमरा लेकर इस अनेकरूपात्मक जगत की कोई चित्रावली अंकित करना चाहें तो शीघ्रता में आपका काम बिगड़ जायगा। इसके लिए तो आपको धूप, छाया तथा अनेक प्रकार का तुक-ताल मिलाना पड़ता है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि वाजपेयी जी ने अनुभूति और कल्पना के कैमरे से जितने चित्रों का निर्माण किया है, वे सभी आकर्षण युक्त हैं। उनकी चारुता में भावों की सम्प्रेषणीयता है, वे कल्पित होते हुए भी जाने-पहचाने प्रतीत होते हैं, अपरिचित होते हुए भी यथार्थ लगते हैं। यह लेखक की शैली है जो पाठक को अपना बना लेती है।

अँग्रेज़ी साहित्य के एक निबंधकार ने अपने निबंधों की ओर संकेत करते हुए यह कहा था कि 'यह सब कुछ तो मैंने बायें हाथ से लिखा है'। सचमुच वाजपेयी जी ने भी कुछ कृतियाँ बायें हाथ से लिखी हैं—जैसे 'गोमती के तट पर' (इस पुस्तक के सन्दर्भ में लेखक स्वयं इस बात को मानता है), 'मनुष्य और देवता', 'निर्यातन', 'निरन्तर' और 'कपट निद्रा'। अब इन बायें हाथ वाली कृतियों की चित्रणशैली पर ध्यान दीजिए:—

"बुढ़िया के केश सन जैसे श्वेत थे, बदन में झुर्रियाँ थीं। धोती वह जो पहने हुए थी, उससे प्रतीत होता था, किसी भले घर की लक्ष्मी है। उसके पैरों में एक-एक बिछुआ था और सिर के मध्य में जो माँग थी उसमें भरी हुई सिंदूर की रेखा यद्यपि पिछले दिन की थी फिर भी उसकी लालिमा स्पष्ट जान पड़ती थी।" **—निरन्तर, पृष्ठ २०८**

"लखनऊ से कानपुर जाने वाला राज-पथ नगर के दक्षिणी भाग को

चीरता हुआ दक्षिण पश्चिम की ओर चला गया है। इस राजमार्ग के दोनों ओर जो विशाल मैदान हैं अब उनमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठानों का निर्माण हो गया है। इन्हीं में एक सरोजनी नगर है। अब तक यह पूरी तरह बस नहीं पाया है। इधर-उधर के प्रतिष्ठानों में भी जो थोड़ा-बहुत यातायात होता रहता है, वह उत्तरप्रदेश की राजधानी के तुमुल कोलाहल से भिन्न है। मार्गों और वीथिकाओं के दोनों ओर लगी हुई दूकानों में न उतनी स्वच्छता है न वैसी जगमगाहट। दूकानों के सम्मुख ग्राहकों की अपेक्षित भीड़ भी यहाँ नहीं रहती।...स्कूल, कालेजों और दफ्तरों की ओर झपटते हुए वयस्क विद्यार्थियों और बाबुओं की वैसी टुकड़ियाँ भी यहाँ नहीं दृष्टिगत होतीं। सायंकाल होते-होते राजमार्ग के दोनों ओर की बत्तियाँ सन्नाटे में छा जाती हैं। कहीं किसी वृक्ष के नीचे कोई अमरूद का डेला या छोटा खोंचे वाला बैठा दिखायी देता है। कभी-कभी कोई बोझ से लदी हुई भारीभरकम लारी सन्नाटे को चीरती हुई नगर में आकर घुस जाती है, या आसपास के ग्रामों से दूध और साग-सब्ज़ी लाने वाले लोग पैदल अथवा साइकिलों पर सवार निकल जाते हैं।"

**—गोमती के तट पर, पृष्ठ १९**

"बिजली के एक खंभे के पास ज्योतिषी जी का आसन लगा था। उनके आगे कपड़े का एक साइनबोर्ड था, जिसके एक ओर के सिरे की रस्सी खंभे में और दूसरे सिरे की धरती में रखी हुई एक भारी ईंट से बँधी हुई थी। कपड़े की रस्सियाँ इस युक्ति से बाँधी गयी थीं कि निकलने वाले साइनबोर्ड भी पढ़ लें और धूप से बचाव भी होता रहे। धरती पर एक बोरा पड़ा था, उसके ऊपर एक सफेद कपड़ा बिछा हुआ था जिस पर एक दोहा भी काली स्याही से लिखा हुआ था।"

**—गोमती के तट पर, पृष्ठ १९**

इन चित्रणों को पढ़कर प्रतीत होता है कि जैसे सभी कुछ अपनी आँखों के सम्मुख घटित हो रहा हो। और यह बात नहीं है कि किसी एक विशेष दृश्यावली से लेखक को विशेष मोह है। जब जैसा प्रसंग आया, वैसा चित्रण तैयार है। वस्तु-चरित्र, कथानक तथा उद्देश्य की दृष्टि से इन कृतियों के सम्बंध में चाहे जैसा मन्तव्य कोई बनाये किन्तु चित्रणों की विशेषता इनमें भी कम नहीं पायी जाती। एक बात हम बहुत पहले स्पष्ट कह चुके हैं, कि वाजपेयी जी अपनी शैली के सम्बंध में सजग हैं। वे सदैव प्रयत्नशील दिखायी पड़ते हैं कि कहीं भी पाठक को उनका लेखन बोझ न लगे। इसी कारण लेखक की लेखनी का संबल पाकर युवावस्था

मुस्कराने लगती है, बुढ़ापा दुनिया की रंगीनी को एक विशेष दृष्टि से देखने लगता है, बचपन अपने भोलेपन में मस्त दिखायी पड़ता है। कारुणिक और शृंगारिक चित्रण मनमोहक बन पड़े हैं। कारुणिक चित्रणों को पढ़कर हृदय की करुणा विगलित हो जाती है। बिहारी बाबू का निधन और लक्ष्मी का स्वर्गवास पाठक को रुला देता है। यह तो शैली है जिसके आधार पर लेखनी के साथ पाठक रोता, हँसता, गाता, मुस्कराता और नाना प्रकार की परिस्थितियों से प्रभावित होता चलता है।

वाजपेयी जी ने अपने उपन्यासों में प्रेम का जो रूप चित्रित किया है उसकी आधार-भूमि है परिचय। परिचय के कारण दोनों पक्षों में प्रतीति की भावना उत्पन्न होती है। इसी प्रतीति की आड़ में प्रेम का जन्म हो जाता है। परिवार के अन्दर पनपने वाले उस प्रेम का चित्रण भी इन उपन्यासों में मिलता है जो सामाजिक दृष्टि से ठीक नहीं माना जाता। लगता है वाजपेयी जी के उपन्यास समाज से पूछ रहे हों—कि इस प्रेम को तुम क्यों नहीं मान्यता देते, क्या यह प्रेम नहीं है? और तो और वाजपेयी जी स्वयं चित्रण तो करते हैं; किन्तु स्वाभाविक प्रेम के आविर्भाव को मान्यता देने में हिचकते हैं। मानाकि रमा और त्रिवेणी का प्रेम ('विश्वास का बल') अपने में जटिलता लिए है, किन्तु निखिल और करुणा ('सूनी राह') के प्रेम को जाने क्यों लेखक नहीं मान्यता देता। वासना के चित्रण की शैली में वाजपेयी जी सीमा के इस पार ही रह गये हैं। वैसे इस प्रकार की शिकायत उनसे यदि की जाय तो वे यही कहेंगे—'भाई दुनिया चाहे जो कहे, मैं प्रेम में वासना को स्थान नहीं देता।' यह मान्यता तो अब अपने स्पष्ट रूप में प्रचलित है कि पत्नी और प्रेमिका में अन्तर होता है। पत्नी प्रेमिका नहीं हो सकती और प्रेमिका पत्नी नहीं हो सकती। इस मान्यता से तो यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति को इस प्रकार दो नाव पर पैर रखने होंगे। इसी प्रकार की बात स्त्रियों के सम्बंध में भी सोची जा सकती है। बात चाहे जो हो, किन्तु वाजपेयी जी के प्रेम-वर्णन की शैली में मुख्य रूप से निम्न विशेषताएँ पायी जाती हैं :—

(१) उपन्यासकार ने आदर्श प्रेम पर अधिक बल दिया है।

(२) प्रेम का परिणाम विवाह है; किन्तु

(३) सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध प्रेम पर बल नहीं दिया गया है।

(४) प्रेम के स्वाभाविक विकास का चित्रण प्रायः सभी उपन्यासों में पाया जाता है।

(५) प्रेम अपने अनेक रूपों में वाजपेयी जी के साहित्य में सर्वत्र विद्यमान है।

कभी-कभी तो ऐसे अवसर भी आये हैं जब विवाहोपरान्त दोनों पक्षों में अनबन हो गयी है और कभी प्रेम के आधार पर सम्पन्न विवाह जीवन-भर सफल बना रहता है। वास्तव में प्रायः सभी संभव और अप्रत्याशित स्थितियों का वर्णन वाजपेयी द्वारा प्रेम सम्बंध में प्राप्त होता है। प्रायः देखा यह जाता है कि उनके उपन्यासों की नायिकाओं का पति कोई और है तथा प्रेमी अन्य। रमा और करुणा तो इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यहाँ आश्चर्य की गुंजाइश नहीं है। यही अपना समाज है। यहाँ की घटनाएँ कुछ इसी प्रकार की हैं। जिस प्रेम-पद्धति को वाजपेयी जी का पाठक उनके उपन्यासों में पढ़ता है वह अपने में परिमार्जित और बहुत कुछ स्वतंत्र है। वे रूढ़िबद्धता के हामी नहीं है किन्तु एकनिष्ठता उनकी प्रेम-यात्रा का संकेत-चिह्न है।

गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण की शैली में वाजपेयी जी सिद्धहस्त हैं। इसका कारण उनकी स्वयं की जीने की कला है। अनुभूति, कल्पना और विवेचन शक्ति का मेल चित्रण को सजीव बना देता है। अनेक प्रकार के चित्रण उनके उपन्यासों में पाये जाते हैं।

गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण की शैली देखने के लिए 'सूनी राह' के गोपाल बाबू, 'विश्वास का बल' के बिहारी बाबू, 'अधिकार का प्रश्न' के काशी बाबू, 'दूखन लागे नैन' में मलहोत्रा बाबू, 'टूटा टी सेट' की द्वादशी, 'निरन्तर' के परमेश्वरी लाल, 'राजपथ' के दादा, 'भूदान' के केदार बाबू सम्बंधी चित्रणों पर विचार करना होगा। इन चित्रणों में दो प्रकार का उद्देश्य पाया जाता है। एक तो मुख्य कथा को आगे बढ़ाने के लिए किये गये चित्रण और दूसरे वातावरण विशेष को आकर्षक बनाने के लिए। इनमें से किसी एक विशेष चित्रण के लिए कई पृष्ठ नहीं खर्च किये गये हैं अपितु जैसी आवश्यकता हुई है उसी प्रकार का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। चित्रण का संतुलन कहीं भी बिगड़ने नहीं पाया है।

वाजपेयी जी की इस शैली के अन्तर्गत सर्वत्र परिणाम खोजना समीचीन नहीं, क्योंकि यदि किसी प्रसंग में आम के वृक्ष का चित्रण किया गया है तो यह आवश्यक नहीं कि बौर आने से लेकर पककर फल गिरने तक की बात बताई जाय। हाँ, इस प्रकार की स्थिति वहाँ आयी है जहाँ सूक्ष्म निरीक्षण के अन्तर्गत लेखक ने सब कुछ लिख देना चाहा है। और कहीं-कहीं तो शीघ्र अंत खोजने वाला पाठक ऐसी स्थिति में पन्ने पलट जाता है। पाठकों का समुदाय तो अपनी अपनी बात पृथक्-पृथक् कहेगा; किन्तु एक सामान्य बात यह है कि किसी नदी के वर्णन में यदि लेखक ने यह बताना प्रारम्भ किया कि नदी कहाँ से

निकलती है ? कहाँ तक जाती है ? उसके तट के नगर कौन-कौन से हैं ? इसका पानी खारा है अथवा मीठा ? वर्षा में इसका क्या रूप होता है ? ग्रीष्म में सूख कर किस प्रकार यह कृशगात हो जाती है ? इस नदी से कौन-कौनसी नहरें निकाली गयी हैं ? इसके किनारे उगने वाली झाड़ियाँ कौन-कौनसी हैं ? ये सारी बातें भूगोल से अधिक सम्बंधित हैं इसलिए इनका उत्तर तो भूगोल की पुस्तक में मिलेगा। उपन्यासकार का काम यह नहीं कि इस प्रकार का ब्योरा वह प्रस्तुत करे। इतना अवश्य होना चाहिए कि यदि नदी का चित्रण कहीं देना आवश्यक हो गया है तो ऐसा हो कि नदी की छवि आँखों के सम्मुख प्रतीत होने लगे। नदी का चित्रण पर्वत का चित्रण नहीं लगना चाहिए। इसी प्रकार सद्‌गृहस्थ की गृहस्थी के चित्रण में उसका सजीव चित्र पाठक के सामने आना चाहिए। वाजपेयी जी की लेखनी एक सद्‌गृहस्थ की लेखनी है। और बस इसीलिए वह गार्हस्थ्य जीवन की बाँकी झाँकी प्रस्तुत कर सकी है।

विभिन्न उपन्यासों के गृहस्थों के जो नाम पीछे गिनाये गये हैं उनसे सम्बन्धित समस्त चित्रण की शैली एक-जैसी है; सामाजिक मूल्यों के क्षण-क्षण परिवर्तित मानदण्डों की आधार-भूमि पर होने के कारण भले ही उनमें कुछ अन्तर प्रतीत हो। एक बार वाजपेयी जी के एक पाठक ने मुझसे शिकायत की कि कभी-कभी तो इस प्रकार के चित्रणों से वे मन उबा देते हैं। मुझे पता नहीं कि इस बात के प्रसंग में वाजपेयी जी क्या कहें किन्तु मैंने उससे कहा, कि भाई! आप अपने समाज को देखते-देखते भी तो ऊब जाते हैं। और कभी-कभी तो यहाँ तक कह देते हैं कि बस-बस बहुत हो गया। रहने दीजिए, अब नहीं देखा जाता। यह तो अपनी-अपनी शैली है। कोई कई डुबकियाँ लगाता है, कोई पानी में प्रविष्ट होकर निकल आता है, और कोई भीगे कपड़े से अपना शरीर पोंछ कर ही सन्तोष कर लेता है। इनमें ही किसी को मोती मिलते हैं और किसी को घोंघे।

उपन्यास के अखाड़े में वाजपेयी जी के बाजी मार जाने में सहायक हुई है उनकी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शैली। जीवन की अनेक जटिल परिस्थितियों में मानव के चिन्तन की भावभूमियाँ क्या-क्या रूप बदलती हैं ? इसे वाजपेयी जी भलीभाँति पहचानते हैं। छोटे-से बच्चे से लेकर बूढ़े तक के मन की बातों को वे जानते हैं। समाज का कोई सदस्य छूटा नहीं है जिसके हृदय में पैठकर उन्होंने मन के चित्राधार को देख न लिया हो। और कभी-कभी तो जानवरों के मन की बात को बड़े सुन्दर ढंग से कह जाते हैं। मनोवैज्ञानिक शैली के अन्तर्गत किये गये चित्रणों के कुछ सन्दर्भ प्रस्तुत हैं:—

"ओः किसी नारी कण्ठ के रुदन और चीत्कार का स्वर आ रहा है।......ध्यान से देखा जाय तो हम सब के सब संसार रूपी एक हास्पिटल में हैं। किसी की टाँग टूट गई है, किसी का दिल टूट गया है तो किसी का हृदय फट गया है। क्रंदन दूर का अवश्य है, लेकिन उसे मैं सुन सकता हूँ। हो सकता है मेरी तरह वह भी व्याकुल हो। संभव है कि वह रो रही हो! क्या करूँ ? कैसे बुलाऊँ उसको यहाँ!"

**—सपना बिक गया, पृष्ठ ४१, ४२**

"इस प्रकार जीवन में एक नवल रस-धारा की तरह जिस भाभी ने प्राण और स्फूर्ति डालने की चेष्टा बिना मेरे किसी आग्रह के, आरम्भ कर दी थी, आज ऐसा जान पड़ता है, मेरे लिए वह चिन्त्य बन गयी है। रात के नौ बजे से बारह-एक बजे तक निरन्तर शयनागार की दीवाल, छत की कड़ियाँ और खिड़की के सींखचे देखता रहता हूँ, किन्तु कहीं किसी कोने से उनके आने का आभास नहीं मिलता। दीवारें मौन हैं, आकाश शून्य है, पवन के झकोरे तो भाभी के आभूषणों की मृदुल झंकार तक पास नहीं फटकने देते! चुपचाप खाना खा आता हूँ। जानता हूँ कि यह खाना उन्हीं के कोमल-कोमल अंगुलि-संचालन की देन है; किन्तु खाने में वह स्वाद ही अब नहीं है। वह मिठास स्निग्धता और सलोनापन तिरोहित-सा हो गया है।"

**—चलते-चलते, पृष्ठ ९८, ९९**

"जीवन अमरूद समाप्त करके अब सेव खा रहा था। मनुष्य स्वयं अपने में खोया रहता है। कभी-कभी वह स्वयं अपने लिये आश्चर्य बन जाता है। त्रिवेणी ने अभी जीवन को जो उत्तर दिया था उससे वह स्वयं मर्माहत हो उठा। उसके भीतर आँधियाँ उठ रही थीं। गाड़ी चली जा रही थी। आँखें स्पष्ट देख रही थीं—पेड़ पीछे की ओर दौड़ रहे हैं। हरियाली से भरी खेती घूमती है। मकान पीछे भागते हुए दिखायी पड़ते हैं। मंदिरों के कलश और मस्जिदों की मीनारें, घास चरते हुए पशु, नदी नालों के पुल—मतलब यह कि सारी धरती पीछे छूट रही है। एक मनुष्य है जो प्रकट रूप में बैठा, खड़ा या लेटा हुआ है, किन्तु वास्तव में गतिशील है।"

**—विश्वास का बल, पृष्ठ ८१**

मनोवैज्ञानिक शैली में जहाँ चित्रण किया जाता है वहाँ सदैव 'विस्तार' की सम्भावना बनी रहती है। कभी-कभी अनावश्यक विस्तार हो भी जाता है।

वैसे मानव-मन की वृत्तियों को बूझना सरल काम नहीं है किन्तु वाजपेयी जी इस सम्बन्ध में कोई बात बड़े सरल ढंग से कहते हैं। जहाँ विस्तार का ध्यान न रखकर केवल चित्रण लेखक का उद्देश्य रहा है वहाँ पाठक का आकर्षण मंद पड़ जाता है। 'सपना बिक गया' और 'चलते-चलते' में ऐसे स्थल पाये जाते हैं जहाँ मनोवैज्ञानिक शैली भी पाठक के मन में ऊब पैदा कर देती है। यद्यपि लेखक अपनी शैली के प्रति जागरूक है, और इसी कारण एक ही शैली पर पर्याप्त समय तक आगे नहीं चलता वरन् उसे बदलता रहता है, किन्तु लम्बे मनोवैज्ञानिक वर्णनों के कारण कुछ उपन्यासों के पढ़ने से पाठक के मन में खीझ-सी होने लगती है। इस प्रकार के उपन्यासों की संख्या अधिक नहीं है।

मनोवैज्ञानिक शैली के अन्तर्गत ऐसी कोई सीमा नहीं निर्धारित की गई है जिसके अन्दर आने वाले चरित्रों का ही चित्रण किया जाय। जहाँ-कहीं अवसर मिला है, लेखक ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सहारा लिया है। अन्तर्मन की गहराई को नापना सरल कार्य नहीं है। इसका एकमात्र कारण यह है कि मानव विविधता की धरती पर पलता है। और फिर इसके साथ ही होता है उसका वातावरण और परिस्थितियाँ। जीवन की लम्बी यात्रा समाप्त करते हुए जितनी मानव मूर्तियाँ लेखक को मिली हैं, उनके जीवन के स्पन्दन, आह्लाद, प्रेम, पुलक, आशा, निराशा तथा कुंठा को उसने समझा है और विभिन्न प्रकार की चित्रावलियाँ उपस्थित करके उसने पाठकों को समझाया भी है। किसी रूप-गर्विता के चित्रण में अन्तर्बाह्य का साम्य उपस्थित करना वस्तुतः एक कलात्मक प्रक्रिया है। ऊपर के रूप-रंग का प्रभाव मन पर क्या प्रभाव डालता है और फिर इस प्रभाव का चित्रण कैसे किया जाता है ? यह देखना हो तो वाजपेयी जी का उपन्यास 'दरार और धुआँ' पढ़ा जा सकता है। इस कृति में एक परम नवीना नायिका हैं मिस फ्रैंक या कहिए मिस खुशी। उनकी अवस्था पचीस की है किन्तु बताने में कुछ मितव्ययिता से काम लेती हैं। बीस बताने में उनका हृदयकमल थोड़ी देर के लिए प्रसन्न दिखाई पड़ता है। यौवन की बातों का उन्हें शौक है। आप से यदि मिस फ्रैंक मिलें तो 'जवानी', 'लुत्फ', 'प्रेम' और न जाने क्या-क्या बातें करें। अनेक व्यक्तियों को प्रभावित करना उसका उद्देश्य था। कॉफी हाउस में मिस्टर शिव और फ्रैंक के वार्तालाप के प्रसंग में कुछ ही वाक्यों में रूपगर्विता नारी के हृदय का मनोवैज्ञानिक चित्रण आकर्षक ढंग से किया गया है। इस शैली में संक्षिप्तता और सरलता बनी रहती है। इतना आवश्यक है कि इस शैली के चित्रों की बहुधा लेखक ने दो प्रणालियाँ अपनायी हैं :—

(१) पात्रों द्वारा मनोवैज्ञानिक चित्रण

### (२) लेखक द्वारा मनोवैज्ञानिक चित्रण

कभी-कभी तो ऐसी शैली अपनायी गयी है, जिसमें पात्र स्वयं अपने मन की बात कहता है। कोई पात्र अपने सहयोगी पात्र की मनोदशा की बात को बहुत ही स्पष्ट और सूक्ष्मता से कहता जाता है। पाठक यदि सजग और सतर्क न हुआ तो उसे पता नहीं लग पाता कि वह कौनसी विशेषता है जो उसे आकर्षित किये है। यहाँ पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि वाजपेयी जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में यह विशेषता नहीं पायी जाती। मनोवैज्ञानिक चित्रण वाली शैली में यदि कुछ कहा भी गया है तो अनुभूति की गहराई न होने के कारण विशेष आकर्षक रूप नहीं प्रस्तुत हो पाया। बाद के उपन्यासों में यह कमी पूरी हो गयी है। और एक विचित्र दुर्घटना तो यह हुई है कि कदाचित् इसी शैली का बाहुल्य देखकर कतिपय विद्वानों ने वाजपेयी जी को व्यक्तिवादी उपन्यासकार मान लिया है। जाने कैसे यह मान्यता कोई विचारक भुला देता है कि व्यक्ति पहले व्यक्तिवादी होता है और तत्पश्चात् समाजवादी। सिद्धान्तों की गठरी अपने शिर पर लादकर चलना भारतीयों को खूब आता है। निष्प्रयोजन भार उन्हें अखरता नहीं। इसीलिए तो वे अभ्यास की बात को छोड़कर सिद्धान्त की बात को पहले करते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों का बनावटीपन जीवन की सारी रसमयता और आह्लाद को आच्छादित किये है। अपनी मनोवैज्ञानिक चित्रण की शैली द्वारा वाजपेयी जी ने इसी रसमयता और आह्लाद का उद्घाटन किया है जो मानव जीवन के लिए मंगल जुटाता है और आवश्यकता पड़ने पर संत्रस्त मानव जाति की शिराओं और धमनियों में नये रक्त का संचार करता है। यही है मानव-मन की कलाबाजी।

यह तो हुई परिस्थितिजन्य घटना अथवा वातावरणप्रेरित मनोभावों की अलग-अलग बात। अब देखिए कि एक ही व्यक्ति एकसाथ कितनी शिलाओं से टकराता है, कभी-कभी तो रुक भी जाता है। शिर थाम लेता है। आगे चलना नहीं चाहता; किन्तु जीवन की लालसा में वह फिर आगे चल देता है। 'राजपथ' के दिलीप को लीजिए। उसका जीवन कर्तव्यसंचालित है, किन्तु अनेक परिस्थितियों के चित्रण की शैली में सरलता और संक्षिप्तता का रूप देखते ही बनता है। सामने प्राप्य वस्तु पाकर के लोग 'न' कह देते हैं और न पाने पर उसी के लिए झींकते रहते हैं। यहाँ तक कि केवल आँखों से देखकर लोग कभी-कभी मिठाई से पेट भर लेते हैं और कभी तो अवसर निकालकर पत्तलें भी चाट लेते हैं। किन्तु नहीं, आदर्श एक ओर और वास्तविकता की रागमाला दूसरी ओर। दिलीप के अन्तर्मन की बहुविध चित्रावलियाँ वाजपेयी जी ने इसी शैली में प्रस्तुत

की हैं जो एकसाथ ही पाठकों के सम्मुख आती हैं :—

> "कालीचरन और रामदास दोनों चले गये। वृक्षों की पत्तियों और टहनियों का मर्मर रव कानों में गूँजने लगा। ऐसे समय एक बार फिर दिलीप को कुछ आत्मीय लोगों की सुधियों ने घेर लिया।······चाचा जग रहे होंगे! सम्भव है उन गाँठों की तारीखें नोट कर रहे हों, जिनको छुड़ा लेने की अवधि बीत रही है। सम्भव है, हिसाब लगा रहे हों कि कितना रुपया नकद घर में है, ऐसा कि जिसको छूने की जरूरत भी नहीं, और कितना बैंक में है जो फिक्स-डिपॉजिट है। सम्भव है, शारदा के ब्याह की चिन्ता में करवट बदल रहे हों।······सुरेन्द्र के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।······और ऐसा भी हो सकता है कि अपनी नव भार्या से खट्टी-मीठी बातें कर रहा हो। क्योंकि सीधी और साधारण बात तो वह कभी कर ही नहीं सकता।······अब काफी ओस पड़ने लगी है। बिस्तर भीगा-सा जान पड़ता है।···· सिर भारी हो रहा है। आँखों में कड़वाहट उत्पन्न हो गई है।······अच्छा यह लक्षणा दीदी के यहाँ खूब मिली। आज तक मैंने किसी लड़की के मुख की ओर इतने ध्यान से नहीं देखा।······यह सुरेन्द्र भी अजीब आदमी है······।"
>
> **—राजपथ, पृष्ठ १७३, १७४**

प्रस्तुत पंक्तियों में जिस शैली का प्रयोग किया गया है उसमें चित्रण की अनेकरूपता और नाटकीयता है। मनोविज्ञान की दिशा में सोचते हुए दिलीप का मन दादा, लक्षणा, सुरेन्द्र आदि की ओर जाता है और साथ ही लक्षणा के प्रति अपने आकर्षण के सम्बन्ध में भी वह सजग है। इस मनोवैज्ञानिक भूमिका में पाठक चलते-चलते ऊब नहीं पाता है। शीघ्र ही दूसरा दृश्य सामने आ जाता है। जिसका भान आपको पहले नहीं हो पाता है। कोई आहट होती है। दृश्य बदल जाता है। वातावरण नितान्त गंभीर और शांत हो जाता है। प्रतीत होता है किसी अप्रत्यक्ष घटना की सूचना मिल रही है। और यहाँ तक कि कभी-कभी तो पाठक का मन भय और आशंका से भर जाता है। वह सोचने लगता है—जाने क्या होने वाला है? चोरी, डकैती, अमंगल, व्यभिचार, प्रेम, व्यापार आदि कार्यों के सम्बन्ध में वाजपेयी जी के लेखक को अलग-अलग अनुभव है। इसीलिए इन विषयों से सम्बन्धित मनोविज्ञान के जिस संसार की रचना वाजपेयी जी करते हैं वह चिर-स्थायी होता है। चित्रण की मनोवैज्ञानिक शैली की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) सरलता और स्पष्टता से बात कही गयी है।

(२) अतृप्त वासनाओं और कुण्ठाओं के वर्णन के प्रसंगों में लेखक ने सहज शालीनता का ध्यान रखा है।

(३) एक दृश्य को बहुत बढ़ाया नहीं गया है।

(४) मनोवैज्ञानिक चित्रण की शैली अतिव्याप्ति दोष से मुक्त है।

(५) प्राय: मन की विभिन्न घाटियों का चित्रण पाया जाता है।

मनोवैज्ञानिक चित्रण की शैली के प्रसंग में वातावरण की बात आयी थी। और इस बात को हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं कि वातावरण का चित्रण करने में वाजपेयी जी की लेखनी अत्यन्त पटु है। घर, बाहर चाहे जहाँ का वातावरण हो, वाजपेयी जी अपनी शैली में ही उसका चित्रण करेंगे। कहीं कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के व्यक्तित्व में खोया हुआ कवि जाग उठा है और अपने भावना-लोक में पाठक को घुमा रहा है। ऐसे सन्दर्भ प्राय: प्रत्येक कृति में पाये जाते हैं। नदी-नद, पटपर मैदान, रेगिस्तान आदि के साथ रात और दिन के अनेक प्रसंग आये हैं। चरित्र-चित्रण में भी ऐसे अवसर आये हैं कि प्रकृति-वर्णन के प्रति लेखक का झुकाव हो गया है और चित्रण में संप्रेषणीयता आ गयी है। एक दृश्य देखिए—

> "अब रात बिल्कुल भीग गयी है। केवल झिल्ली का स्वर सुनाई देता है। आकाश मूक है, वायु भी मूक है। चेतना के पलक मूक हैं। मनुष्य का क्लान्त मन भी मूक है। लेकिन गति मूक नहीं है। उपचेतना के पंख खुले हैं। मनुष्य का अन्तर्मुख खुला हुआ है। कल्पनाएँ कल्लोल कर रही हैं। मनुष्य की कांक्षा अब वंदिनी नहीं रह गयी। समाज के बंधन टूट गये हैं। नीति का आतंक छिन्न-भिन्न हो गया है। मनुष्य ने त्राण पाया है।"

**—निमंत्रण, पृष्ठ, १७४**

यहाँ एक बात द्रष्टव्य यह है कि वाक्य छोटे-छोटे हैं, किन्तु फिर भी पर-स्पर एक न होते हुए भी आपस में उनका संबंध है। वाक्यों और शब्दों के प्रयोग की बात विस्तार से भाषा वाले प्रकरण में की जायगी। यहाँ तो केवल यह देखना है कि इस शैली में लेखक की भाषा भी सहायक हुई है।

अब आइए नाटकीयता की ओर। वाजपेयी जी की लेखन शैली का यह गुण विषय-वस्तु के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है। वैसे इस विषय में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) प्रस्तुतीकरण;

(२) दृश्य-परिवर्तन।

मानव अपनी प्रकृति के अनुसार नित्य नवीनता का प्रेमी होता है। उसकी यह प्रवृत्ति सौन्दर्य और रसमयता का आधार है। यही वह मुख्य कारण है जिसके आधार पर लेखक एक ही दृश्य को लेकर आगे नहीं बढ़ता है। दृश्यों के परिवर्तन से शैली में नाटकीयता आती गयी है। और कभी-कभी तो लेखक की कलाबाजी पाठक की समझ में जल्दी नहीं आती। 'चलते-चलते' की कथा के पूर्वाभास का संयोजन, नाटकीयता और दृश्य परिवर्तनयुक्त है। अनेक उपन्यासों के नायकों का चित्रण इसी शैली में हुआ है। स्त्री पात्रों का चित्रण तो नाटकीयता की दृष्टि से और भी आगे है। पता नहीं क्यों, लेखक स्त्री पात्रों के चित्रण में अधिक रुचि लेता है। वैसे मेरी इस बात के उत्तर में वह कहेगा, कि महाशय ! दिलीप, उपेन्द्र, शर्मा, गिरधारी, त्रिवेणी, राकेश, निखिल, राजीव आदि एक भी पुरुष पात्र नहीं जँचे आपको ? और हाँ 'सूनी राह' के पागल स्वामी को भी आप नहीं जानते ? यह बात भी कही जा सकती है कि भिन्नलिंगी होने के कारण लेखक उधर अधिक झुका हो। शैली में यह विशेषता दो प्रकार से आयी है :—

(१) लेखक के कथन द्वारा।
(२) पात्रों के संवाद द्वारा।

लेखक का कथन सुरुचिपूर्ण, सूक्ष्म और कहीं-कहीं दार्शनिक होता है। चरित्रों के परिचय में किसी नवीन शैली का प्रयोग लेखक ने नहीं किया है। वर्णनात्मक शैली के सहारे ही वह अपनी बात कहता जाता है। प्रारम्भ के उपन्यासों में यह शैली उतनी निखरी हुई और परिमार्जित नहीं पायी जाती जितनी बाद के उपन्यासों में। 'सूनी राह', 'विश्वास का बल', 'चलते-चलते', 'राजपथ', 'यथार्थ से आगे', 'टूटते बंधन', 'अधिकार का प्रश्न', 'टूटा टी सेट', 'दूखन लागे नैन' आदि अनेक ऐसे उपन्यास हैं जिनमें चरित्रों के चित्रण में लेखक अपनी ओर से ही कुछ कहता है। संवाद वाली शैली अपनाने से उपन्यासों की रचना में निम्नलिखित विशेषताएँ आयी हैं :—

(१) पात्रों के चरित्र का पता चलता है।
(२) कथा-सूत्र आगे बढ़ता है।
(३) प्रसंग में रोचकता आती है।
(४) भाषा का रूप सँवरता है।

वाजपेयी जी के उपन्यासों में प्रयुक्त संवाद-शैली में इतनी विविधता पायी जाती है कि पाठक मंत्रमुग्ध हो जाता है। वस्तुतः उनके संवाद बेजोड़ हैं। और कभी तो लेखक स्वयं अपने पात्रों से बात करता हुआ प्रतीत होता है।

इस तथ्य की ओर हम संकेत कर चुके हैं कि वाजपेयी जी का आत्मकथ्य कहीं-कहीं पात्रों के माध्यम से व्यक्त हो गया है। वैसे पात्रों के बहुरूपिये मेले में लेखक का अपना मन्तव्य किसके साथ है, कहना कठिन है, किन्तु जिसको लेखक के जीवन से व्यक्तिगत परिचय प्राप्त है उसे उसकी कृति में ही झाँकता हुआ लेखक का जीवन एक प्रकार का आनंद दे जाता है।

यहाँ एक ऐसा उदाहरण देखिए जिसका संवाद विचित्र प्रकार का है। एक ही व्यक्ति की बात पाठक या श्रोता को सुनाई पड़ रही है; किन्तु वह बड़ी सफाई से सारी बातों का प्रस्तुतीकरण करता जा रहा है। मेरा अनुमान है आप समझ गये होंगे। बातचीत फोन पर हो रही है। 'यथार्थ से आगे' का एक प्रसंग है:—

> "वीरेन्द्र लुंगी पहन चुका था। झट से बनियान पहनकर फोन की बात सुनने आ पहुँचा—'हलो, येस, वीरेन्द्र स्पीकिंग, हाँ, हाँ, अच्छा बहुत-बहुत धन्यवाद ··· ह······ह······ह······अरे साहब चाहे जिस दिन आकर खाइए मिठाई—एक नहीं, सात-सात। हाँ, मगर वो आजकल जरा कम बाहर निकलती है। यूँ ही कोई खास बात नहीं। और कभी होगी तो उसका हर्ष और आनन्द आप से छिपा रहेगा। हाँ हाँ मुझे मालूम नहीं हुआ था। मैं तो अभी-अभी आया हूँ। आज तो नहीं साहब, बड़ी देर के बाद पानी थमा है और हवा में जो सरदी-सी घुलती जान पड़ती है, बड़ी प्यारी लग रही है। अच्छा, कल—जरूर—सबेरे नहीं दादा, शाम को, सो भी आठ के बाद। हाँ, हाँ अच्छा ! इस कृपा के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद।"

और इसके बाद वह उछलता हुआ हेमा के पास आ पहुँचा और बोला—

> "तुमको एक खुशखबरी सुनाऊँ। मुझको अभी मालूम हुआ है।"
>
> [पृष्ठ ३२१]

यहाँ फोन पर कोई सज्जन कहीं से बोल रहे हैं। वीरेन्द्र महोदय उनके फोन की बात का उत्तर दे रहे हैं। किसी फोन 'रिसीव' करते हुए व्यक्ति का इससे बढ़कर अन्य चित्र क्या होगा ! उसी प्रकार छोटे-छोटे वाक्य, कभी-कभी हाँ, हाँ और न, 'न का ढंग। बीच-बीच में—'अच्छा तो यह बात है'। यही है शैली की नाटकीयता जो संवादों में पायी जाती है। वस्तुतः यहाँ एक व्यक्ति बोल रहा है और उपस्थिति दो व्यक्तियों की लग रही है। ऐसी परिस्थितियाँ वाजपेयी जी के अधिकांश उपन्यासों में आयी हैं। इस मशीनो युग में तकनाक की विविधता कितना आनंद दे जाती है। क्या कोई कल्पना कर सकता है ?

इस प्रसंग में शैली ने सबसे बड़ा काम यह किया है कि पाठक का मन जिज्ञासु

हो जाता है। वह तुरंत सोचने लगता है कि कौनसी बात है जो वीरेन्द्र हेमा से कहेगा ? यही है कलाकार का कौशल, जो अपने जादू से पाठक को अभिभूत किये रहता है। इसके अतिरिक्त वाजपेयी जी के उपन्यासों में संवाद प्रायः सभी वर्गों के पात्रों में पाये जाते हैं। नौकर, मालिक, वकील, मुहर्रिर, मुवक्किल, प्रेमी, प्रेमिका, गृहस्थ, किसान, मजूर, पूँजीपति, संत, दूकानदार, वेश्या, अध्यापक, विद्यार्थी तथा परिवार और समाज के अन्य सदस्यों के वार्तालाप वाजपेयी जी के उपन्यासों में आपको मिलेंगे। राजपथ' में केवट और युवती, दिलीप और बफाती, अभिधा और मुनीश्वर बाबू के वार्तालाप रोचक हैं। इस बात को ध्यान में रख कर अनेक उद्धरण देना यहाँ समीचीन नहीं है, किन्तु बड़ी सुगमता के साथ प्रत्येक कृति में इस प्रकार के उदाहरण मिल जाते हैं। संवाद की जितनी शैलियाँ वाजपेयी जी की हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है—

(१) इस शैली में सरल और सुस्पष्ट भाषा का प्रयोग हुआ है।

(२) कहीं-कहीं हास्य का भी पुट मिलता है।

(३) प्रश्नोत्तर की शैली में व्यंजना की प्रधानता है।

(४) सर्वत्र नाटकीयता पायी जाती है।

(५) प्रत्येक कथन के साथ मनोभावों का भी चित्रण किया गया है।

(६) गृहस्थ-जीवन और प्रेमालाप के प्रसंगों में रोचकता अधिक पायी जाती है।

(७) संवादों से प्रायः जीवन-दर्शन का स्पष्टीकरण होता है।

अब यह देखना चाहिए, कि वाजपेयी जी की लेखनी ने शैली के अन्तर्गत हास्य का पुट दिया है अथवा नहीं। वैसे हास्य तो प्रायः प्रत्येक उपन्यास में किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है; किन्तु जिस गंभीर हास्य की अवतारणा होनी चाहिए, उसकी कमी खटकती है। यहाँ उद्धरणों का सहारा लेकर चला जाय तो अच्छा रहेगा। हास्य-शैली वाले कुछ प्रसंगों को देखिए :—

> "'खाडिलकर साहब से आपका क्या सम्बन्ध है, मैं जान सकता हूँ ?' अरुण ने उत्तर दिया—'जनाब वे मेरी बीबी के भाई के साले के मामू हैं।' तब उसने मराठी में कह दिया—'बरा बरा।' फिर हिन्दी में कहने लगा—'आप लोग कूं और कुछ माँगता ?' "

**—टूटा टी सेट, पृष्ठ ४६**

"जब रमा अवकाश निकालकर सुहासिनी के पास जा पहुँची तब सुहासिनी ने उसकी ओर देखते हुए कह दिया—'चाय-वाय पीकर तो

नहीं आयी ?' रमा ने मुसकराते हुए उत्तर दिया—'तुम्हारे यहाँ तो चाय खाई जाती है, और मैं चाय पीकर आयी हूँ।'"

—**विश्वास का बल, पृष्ठ ११४**

"कलावती ने उत्तर दिया—'मेरा ख़याल ऐसा नहीं है। तुम कहो कुन्दन बेटा। बच्चों के बीच में बैठकर हँसने-बोलने में जिनको संकोच होता है उनको सद्गृहस्थ नहीं, बाल-ब्रह्मचारी रहना चाहिए।'"

—**अधिकार का प्रश्न, पृष्ठ ४५**

"रुखसत के एक घंटे पहले जब उसकी आँखों में आँसू भरे हुए थे, हँसते-हँसते उसने कहा था—'तुमने हमको एक रूमाल तक न दिया भैया।' बफाती ने सकुचाते-शरमाते हुए कह दिया—'मैं डर रहा था कि कहीं मेरी भेंट की हुई चीज़ों में ब्लेड की बू न आने लगे।'"

—**राजपथ, पृष्ठ २६७**

इन अवतरणों में से 'राजपथ' वाला अवतरण हास्य की सृष्टि तो कम करता है किन्तु व्यंग्य-व्यापार इसमें उच्च कोटि का है। प्रसंग के साथ ही, अलग होकर नहीं। बफाती की ये बातें सुनकर हमीदा हँस पड़ती है। यह बात यहाँ स्पष्ट झलकती है कि हास्य के जो प्रसंग आये हैं उनकी गंभीरता का ध्यान लेखक ने रखा है। कहीं-कहीं तो ऐसा भी हुआ है कि पाठक को हँसी नहीं आती किन्तु वह हँसना चाहता है। ऐसे प्रसंग इधर की कृतियों में प्रायः आये हैं।

प्रतीत होता है वाजपेयी जी की लेखनी चलते-चलते जब स्वयं आनन्द के 'मूड' में होती है तो अपने पाठकों को भी आनन्दित कर देती है। लेखक के व्यक्तिगत जीवन का हास्य उसकी लेखनी के माध्यम से उसकी कृतियों में जहाँ कहीं भी आया, सरल और स्पष्ट रूप में। उसके जीवन में उदासी और नीरसता का कोई नाम नहीं है; इसलिए उमंग और उत्साह के प्रसंगों में उसने हास्य की अवतारणा की है। यह प्रणाली उसकी शैली का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी है। आगे क्रमिक विकास में इस विषय पर विचार किया जायगा।

शैली-सौन्दर्य की दृष्टि से हास्य और व्यंग्य एक-दूसरे के पूरक होते हैं। हास्य में व्यंग्य अन्तर्भूत होता है और व्यंग्य में हास्य का रूप पाया जाता है। वाजपेयी जी की कृतियों में जहाँ हास्य का रूप कम आकर्षक है वहीं व्यंग्य के प्रसंग सुन्दर बन पड़े हैं। ऐसे प्रसंग वार्तालाप में सर्वत्र बिखरे हैं। कोई भी उपन्यास ले लीजिए, पढ़ते-पढ़ते शीघ्र ही आपको व्यंग्य का रूप मिल जायगा। हो सकता है उसी के आधार पर हास्य का सम्प्रसारण हो जाय; किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है। वास्तव में व्यंग्य-शैली में अर्थ-गाम्भीर्य का रूप पाया जाता है। यही कारण

है कि वाजपेयी जी की कृतियों में एक प्रकार की अर्थपूर्ण गम्भीरता पायी जाती है; किन्तु ध्यान रहे जो उपन्यास जल्दी-जल्दी में लिखे गये हैं उनके विषय में मैं नहीं कह रहा हूँ। और ऐसी कृतियों की ओर मैं पहले ही संकेत कर चुका हूँ।

यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि वाजपेयी जी का उपन्यासकार अपने मूल रूप में कवि था। इसी कारण उनके वर्णन में काव्यात्मक सौन्दर्य पाया जाता है। प्रकृति-चित्रण के प्रसंगों में तो कभी-कभी वे कविता करने लगते हैं। इतना ही नहीं, उपन्यासों में प्रगीतों के भी प्रयोग उन्होंने किये हैं। नमूने के लिए कुछेक उद्धरण पर्याप्त होंगे :—

"प्रतिक्रिया, कुंठा का
रागद्वेष हिंसा का
दम्भ अहंकार का
कपट माया जाल का
ध्वंस करो लोप करो
मंगलमय कुशल करो
ज्योतिर्मय तिमिर हरो।"

**—गोमती के तट पर**

× × ×

"हे नवग्रह !
प्रातःकाल की इस पुण्य वेला में
हमारे स्वाधीन देश की नई पौध
तुम्हारी पावन अनुकम्पा की मूक याचना कर रही है।
फूट द्वेष और अहंकार में डूबी,
पथभ्रष्ट हमारी मानवी दुर्बलताएँ अनन्त हैं।
तो भी तुम्हारा वरद् हस्त यदि अनुकूल रहे,
तो कोई विघ्न बाधा
हमारे अनिवार्य अभ्युत्थान को रोक न पायेगी
इसलिए देव !
हम सबको अपने पोषण का कुछ ऐसा अवलम्ब दो
कि कोई भी भाव हमें निर्बल न बनाये।"

**—राजपथ**

× × ×

"भूल कर मेरी याद न करना,
जब-जब मैंने स्पर्श किया मन
ले-देकर अपना अपनापन,

उन घड़ियों पर प्रश्न उठे, तो
अहो नवल प्रेरणा-रागिणी
कभी विवाद न करना।"

—विश्वास का बल

इन गीतों की संयोजना में लेखक ने सावधानी से काम लिया है। इनकी संख्या बहुत थोड़ी है। जहाँ-कहीं विशेष भाव-बोध का प्रकटीकरण आवश्यक था, वहीं यह शैली अपनायी गयी है। इतना अवश्य है कि आवश्यकतानुसार वाजपेयी जी के पात्र रेडियो के गीत बड़ी तल्लीनता से सुनते हैं। कभी-कभी तो वातावरण को गंभीर अथवा प्रेम-युक्त चित्रित करने में अपनी शैली के अनुकूल ही संकेत से लेखक कह देता है—'और रेडियो से अमुक गीत प्रसारित हो रहा था।' शैली के इस गुण के आधार पर वस्तु में रोचकता आती गयी है। जहाँ कहीं लेखक का कवि कुछ गा उठता है या गुनगुना देता है वहाँ काव्यात्मक सौंदर्य से शैली प्रभावित जान पड़ती है।

कभी-कभी तो सूक्ष्मता के चक्कर में पड़कर लेखक ने वातावरण चित्रित करने में ऐसी सूक्ष्म बातों का चित्रण किया है जो जुगुप्सा जागृत करती है। इससे हमारा अनुमान यह बाद में बताता है कि लेखक ने अनुभूति के आधार पर चित्रण किया है। पहले तो हम यही सोचते हैं, कि यदि यह प्रसंग न चित्रित किया जाता तो कोई विशेष हानि न होती। इसी प्रकार कुछ स्थलों पर ऐसी भूलें हो गयी हैं जिन्हें देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। 'राजपथ' में एक स्थल पर दादा कुर्सी पर बैठे हैं और उन्हें बाद में सोफे पर बैठा हुआ चित्रित किया जाता है। एक अन्य प्रसंग में कार और लारी को एक समझने की भूल की गयी है। यदि वाजपेयी जी से शिकायत की जाय तो वे तुरन्त पूछ बैठेंगे—क्या यह 'नया प्रयोग' नहीं है? यद्यपि 'नये प्रयोग' का नारा भी अब पुराना हो चला है।

शैली सम्बन्धी इतने विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया, कि लेखक की शैली उसका अपना व्यक्तित्व है। किसी भी लेखक की कृतियों में उसका व्यक्तित्व व्याप्त है तथा व्यक्तित्व में शैली। वाजपेयी जी की शैली में जहाँ एक ओर बनावटीपन और कृत्रिमता नहीं है वहीं दूसरी ओर वे अपनी रचनाओं के प्रति जागरूक प्रतीत होते हैं। उनकी इस सजगता का पता उनके पात्रों के नामों से चलता है। अभिव्यंजना की सफलता के लिये वाजपेयी जी का शैली-कार अलंकार और शब्द-शक्तियों का सहारा निःसंकोच रूप से लेता है। भाषा ने भी वाजपेयी की शैली को एक रूप दिया है। अब तो पाठक वाजपेयी जी की शैली को पहचान गया है और कदाचित् इसी कारण वाजपेयी जी शैली के क्षेत्र में कावा काटने की बात सोचते रहते हैं। परिणामस्वरूप वे शैली के प्रसंग में

नित्य नवीनता के पक्षपाती हैं। रुग्ण अथवा मुमूर्षु अवस्था में पाये जाने वाले प्राणियों का वर्णन करके उन्होंने जगत की करुणा को तो कम पुकारा किन्तु प्रेम के विभिन्न रूपों के ऐसे मनोरम चित्र वाजपेयी जी की शैली ने उरेहे हैं कि जिनके दर्शन मात्र से मानव को संतोष मिलता है। और यदि कोई पाठक वाजपेयी जी के उपन्यासों में अपना चित्रण अचानक पा जाए, तो उसके लिए यह एक विशेष बात होगी। इस प्रसंग के अन्त में मैं यह कहूँगा कि यह वाजपेयी जी की शैली है जिसने उनके उपन्यासकार की आयु बढ़ा दी। पैदा कहाँ हुई ? शोभा कहाँ पा रही है ? शैली की यह शैली भी कम स्पृहणीय नहीं है।

---

## ६ | भाषा का स्वरूप

यद्यपि वाजपेयी जी के प्रारम्भिक और बाद के उपन्यासों की भाषा में बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है; किन्तु भाषा के दोनों रूप परिमार्जित और सुघरे हुए हैं। अपनी बात कहने के लिए लेखक को सामान्य शब्दों का भण्डार मिला है। जहाँ-कहीं शुद्ध साहित्यिक शब्दों की आवश्यकता हुई है, निस्संकोच उनका प्रयोग किया गया है। भाषा के अन्तर को समझने के लिए निम्नलिखित अवतरणों पर विचार करना होगा। एक ही कृति के तीन अलग-अलग प्रसंग प्रस्तुत हैं :—

"इक्के वाले ने जवाब दिया—'मालिक, पैदावरी के दिन गये। वह ज़माना कुछ और ही था। उस वक्त गेहूँ बारह-पन्द्रह सेर का बिकता था। बड़ी मौज रहती थी। अब ढाई सेर का बिकता है। तरकारी मेवा के भाव हो गयी है। जहाँ चार-छः घंटे एक मरतबा कसके मेहनत कर दी कि दो रुपये सीधे हो जाते थे। अब तो दिन-रात मिलाकर दस घंटे जोतता हूँ मगर कोई बरकत ही नहीं जान पड़ती। घर में तीन बच्चे हैं—हम मियाँ-बीबी दो और। कुल पाँच खाने वाले ठहरे। आप ही बतलाइए, क्या खुद खाऊँ और क्या इस जानवर को खिलाऊँ। बीबी बच्चे रात-दिन लाओ पैसा, लाओ पैसा की रट लगाए रहते हैं। फिर सोचता हूँ कि खुदा का शुक्र है जो इतना भी मिल जाता है—सौ से बुरा तो एक से बेहतर बना दिया। जिनको रोटी भी नसीब नहीं बेचारे वे क्या करें।"

"कमला बाबू ने उत्तर दिया—'तुम औरत जात ठहरीं। तुम क्या जानो कि गूलर किस वक्त फूलता है। यह तो हमीं लोगों का काम है। अरे ! तुम इतना भी नहीं समझतीं कि यह अगर वकालत पढ़ता ही होता तो इस वक्त तीन हजार रुपये का नकद का डौल था। वही तो······। ······पराठा अब न रखना। यह ससुर भी अब देर में पचता है। वह तो कहो कि आदत पड़ गयी है। इसीलिए। अरे हाँ, अपनी आदत से लाचार हूँ।'"

"परन्तु दूसरे ही क्षण उसे बोध हुआ, न तो वह पागल हो गया है, न उसने ऐसा आचरण कर बैठने की क्षमता ही अर्जन कर रखी है। शकुन्तला उसकी है कौन!······और शकुन्तला ही क्यों, इस अखिल विश्व में कहीं भी कोई उसका कौन है।······किन्तु यदि शकुन्तला उसकी ओर से कोई नहीं हो सकी है तो फिर यह छेड़ किस लिए है? प्रश्न है कि हृदय-वीणा के इस तार का वह स्पर्श क्या हेतु रखता है? इस पाषाण-खण्ड को सरिता की यह हिलोर अकस्मात् आकर छू ही क्यों गयी है? एक पिपासाकुल मृग को आज इस यौवन-तृप्त मृगी ने अपने नयन-बाणों से विद्ध करने की चेष्टा ही क्यों की? क्या वह नहीं जानती कि कमलनयन भी मनुष्य है? और मनुष्य पशु पहले होता है, पीछे मनुष्य बनता है। वह मनुष्य बनकर भी पशुत्व को सर्वथा खो नहीं पाता। पौरुष और पराक्रम, आक्रमण और हिंसा के समय उसका पशुत्व ही उसे विजयी बनाता है।"

**—पिपासा**

ये तीनों कथन तीन प्रकार के पात्रों के हैं। पहला कथन इक्के वाले का है। दूसरे को एक गृहस्थ कहता है और तीसरा एक कवि प्रेमी का है। तीनों की भाषा में अन्तर पाया जाता है। इक्के वाले का कथन उर्दू के शब्दों से युक्त है। इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करने वाले यदि सर्वत्र नहीं तो लखनऊ, आगरा और कानपुर में तो अवश्य मिल जायेंगे। बड़ी सरस और मजेदार इनकी भाषा होती है। ध्यान दीजिए इक्के वाले की इस बात पर कि 'तरकारी मेवा के भाव हो गयी है।' कभी-कभी तो भाषा में बड़ी दार्शनिकता पायी जाती है। कथन के सारे वाक्य एक-दूसरे से सम्बंधित हैं। 'पैदावरी', 'जमाना', 'वक्त', 'मरतबा', 'मेहनत', 'बरकत', 'मियाँ-बीबी', 'खुदा', 'शुक्र', 'बेहतर', 'नसीब' आदि शब्द भाषा को पात्रानुकूल बना देते हैं। और भाषा के इसी गुण के कारण उपन्यासकार की कला प्रयोगों के युग में भी आगे है। वाजपेयी जी की भाषा पर आँचलिकता का प्रभाव तो नहीं है किन्तु उनके पात्र अपने वर्ग के अनुकूल भाषा का प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा के ऊपर बनावटी नकाब नहीं है, वह अपने में स्वाभाविक और मौलिक है।

अब दूसरे उद्धरण को देखिए। इसका प्रत्येक वाक्य परस्पर असम्बद्ध है। कारण—तत्कालीन परिस्थिति है। भोजन करते हुए व्यक्ति का ध्यान कभी तो अपनी गृहस्थी पर जाता है और कभी भोजन के स्वाद पर। औरत जात···गूलर का फूल, वकालत की शिक्षा, तीन हजार नकद, पराठा, आदत आदि प्रसंग पृथक्-

पृथक् हैं किन्तु कुछ इसी प्रकार की अस्तव्यस्तता कमला बाबू के जीवन में पायी जाती है।

अब तीसरे उद्धरण की विशेषता देखिए । 'क्षण', 'बोध', 'अखिल', 'क्षमता,' 'विद्ध' आदि शब्दों के आधार पर भाषा यहाँ शुद्ध साहित्यिक बनी है, जिसका प्रयोग एक कवि ही कर सकता है अथवा इस प्रकार की भाषा में रुचि रखने वाला व्यक्ति। केवल इतना ही नहीं—'हृदय-वीणा', 'पाषाण-खण्ड', 'पिपासाकुल मृग', 'यौवन-तृप्त मृगी', 'नयन-बाण' आदि प्रयोग भी भाषा की दृष्टि से विचारणीय हैं। यदि किसी साधारण पात्र द्वारा इस प्रकार की भाषा बोलने का उपक्रम रचा जाय तो अस्वाभाविक होगा। उदाहरण के लिए 'विश्वास का बल' की छटंकी यदि यह भाषा बोले तो कितनी अस्वाभाविक बात होगी।

अपने उपन्यासों में वाजपेयी जी ने जिन-जिन पात्रों का चित्रण किया है उनकी सभी की परिस्थितियाँ पृथक्-पृथक् हैं। कहीं-कहीं ये परिस्थितियाँ आपस में मिलती भी हैं। जिस प्रकार पात्रों की भाषा में अन्तर पाया जाता है, उसी प्रकार विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों की भाषा भी अपना रूप पृथक्-पृथक् रखती है। यहाँ तक कि प्रकृति के नाना प्रकार के चित्रणों की भाषा में अन्तर पाया जाता है। यह प्रयोग-वैभिन्य उपन्यासकार की कला में निखार ला देता है। इस सन्दर्भ में वाजपेयी जी के नित्य नवीन प्रयोग उनकी भाषा पर पुरानेपन का निर्मोक नहीं चढ़ने देते। उसकी समरसता और नित्य नवीनता पाठक के आकर्षण को बनाये रहती है।

विभिन्न प्रकार के पात्रों और परिस्थितियों के प्रसंग में प्रयुक्त भाषा के सौष्ठव को देखने के लिए विस्तार में जाना होगा। मैंने यह बात कह दी है, कि वाजपेयी जी के प्रारम्भिक उपन्यासों और बाद के उपन्यासों की भाषा में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। अभी जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये थे वे पिपासा' के थे। यह कृति सन् १९३७ की है। सन् १९६५ में प्रकाशित 'अधिकार का प्रश्न' उपन्यास की भाषा भी समानधर्मा है। हाँ, इतना अवश्य है कि वाक्यों का गठन कुछ अधिक सुश्रृंखलित है। काशी बाबू के पुत्र उपेन्द्र हैं। सनकी और उग्र स्वभाव प्रकृति से उन्होंने पाया है। यहाँ उनके चिन्तन और कथन के कुछेक प्रसंग देखिए :—

> "किन्तु हरएक संकल्प के पीछे अटूट धैर्य की आवश्यकता होती है। हमारे बहुतेरे संकल्प अन्त में इसलिए नहीं पूरे होते कि हम अवसर आने से पूर्व ही उनकी घोषणा कर बैठते हैं। यह नहीं देखते कि संकल्पों की रक्षा के लिए संभव गोपनीयता की आवश्यकता होती है।" [पृष्ठ ३]

"पिता जी, आप यह क्यों सोचते हैं कि हम भी उसी युग की संतान हैं, जिस युग की मान्यताओं का प्रतिनिधित्व आप कर रहे हैं। आप यह क्यों भूल जाते हैं कि हमारा आज का जीवन बीस पचीस वर्ष पूर्व की उन मान्यताओं का नहीं है जिनको हम एक शब्द में विगत कहते हैं। आज तो मनुष्य कर्त्तव्य की बात सोचने से पहले अधिकार की बात सोचता है।" [पृष्ठ ९]

इन अवतरणों की भाषा प्रयोजन के अनुकूल है। वैसे तो भाषा के प्रसंग में अनेक मत प्रतिपादित हुए हैं। कोई शुद्ध साहित्यिक संस्कृत-गर्भित भाषा के प्रासाद में साहित्य को बसाना चाहता है और कोई उसे अत्यन्त सरल प्रवाही बना कर सुगमता की ओर ले जाना चाहता है। हिन्दी में ऐसे उपन्यास आपको मिल जायेंगे जिनकी भाषा ही अपने चमत्कार में पाठक को बाँध लेती है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि उपन्यास-रचना का तात्पर्य भाषा का प्रदर्शन और जादूगरी नहीं। कहीं-कहीं जब उपन्यासों में घर की सफाई करने वाला नौकर संस्कृत बोलता हुआ पाया जाता है तो मण्डन मिश्र की नगरी माहिष्मती की ओर ध्यान आकर्षित हो जाता है जहाँ की सारिकाएँ और शुक संस्कृत में संलाप किया करते थे। किन्तु इस प्रकार की अनहोनी बात कहने की परम्परा समाप्त हो गयी। परिवर्तन की शिला पर प्रतिक्षण नित्य नवीन चित्र युग द्वारा बनाए जाते हैं और देखते-देखते आँखों से ओझल हो जाते हैं। इसलिए युगानुरूप क्रिया-कलाप में ही सभी लोग आकर्षित होते हैं। अभी जो उद्धरण प्रस्तुत किया गया है उसकी भाषा में उर्दू के शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ है, किन्तु उसका रूप परिमार्जित और स्पष्टतायुक्त है। जहाँ कोई ऐसा पात्र है जो उर्दू के वातावरण में रहता है उसकी भाषा में लखनऊ की नफासत होनी आवश्यक है। 'राजपथ' के बफाती द्वारा प्रयुक्त कुछ वाक्यों पर ध्यान दीजिए— :

(१) "जिस बात का महज़ ख्याल करने से दिल दहल उठता है, वह कहीं हो जाती, तो आज मेरी भी वही हालत होती, जो स्टेशन मास्टर की हुई है। आखिर रुपये के लालच से ही तो उसने अपने लड़के की जान गँवा दी।"

(२) "अगर मुझे फाँसी दे दी गई तो मेरी ज़िन्दगी का मकसद पूरा होने से रह जायगा।"

(३) "उन अनाथ बेवाओं और मासूम बच्चों का क्या होगा, जिनको मुझसे सहारा मिला करता था।"

(४) "···तुम झूठे हो ! मक्कार, दगाबाज़, शोहदे और बदमाश हो ! तुम कौम को धोखा देते हो ।···गद्दार हो तुम ! दिलीप से भी तुमने यही वादा किया था ।"

(५) "तब उसने निश्चय किया—

'बफाती न फाँसी पर चढ़ेगा न मौत के मुँह में जायेगा । वह इसी ज़िन्दगी में एक शरीफ बन कर रहेगा । ज़ीनत उससे भेंट करने आएगी, हमीदा उससे मिलकर खुश होगी' ।"

बफाती अपने नगर का 'उचक्का', 'उठाईगीर', 'बदमाश' और जाने क्या-क्या था; किन्तु जाति का मुसलमान होने के कारण उर्दू मिश्रित भाषा बोलना कितना स्वाभाविक है । यदि बफाती संस्कृत में बात करता तो निश्चय ही अस्वाभाविक लगती, यद्यपि कुछ लोग इसे प्रतिभा का चमत्कार मानते हैं। कभी-कभी वाजपेयी जी भी बौद्धिकता की सीमा को लाँघकर ऐसी नामावली प्रस्तुत करते हैं कि उनके पाठक को भी आश्चर्यचकित होना पड़ता है । 'अभिधा', 'लक्षणा', 'व्यंजना' तथा 'विशेषण' नाम इस प्रसंग में सोचे जा सकते हैं । ये प्रयोग तो अपने में शुद्ध और साहित्यिक हैं यद्यपि लगते अजनबी जैसे हैं । अँग्रेज़ी और हिन्दी की खिचड़ी (बिना स्वाद की) पकाने वालों ने तो 'स्टूडेण्टों', 'लेक्चरों', 'हेल्परों', 'पेनों', 'मैगज़ीनों', 'स्पीचों' और 'ब्लेडों' द्वारा भाषा की नाक काटने की चेष्टा की है। देखिए वाजपेयी जी के अँग्रेज़ी जानने वाले पात्र कैसी भाषा का प्रयोग करते हैं :—

"—" और मैं हूँ प्रभाकर। कल तुम कहाँ थे विवेक ? मैंने तुमको फोन भी किया था; पर तुम्हारा कुछ पता ही न चला।"

—"और मैं क्लास में तुम्हारा इन्तज़ार करता रहा ।"

"क्लास में ? ह्वाट डू यू मीन ? तुमको पता भी है, तुमको पता भी है, मैं कई दिन से परेशान हूँ कि प्रवेशशुल्क कैसे जमा करूँ !"

"बको मत ? हमको उल्लू बना रहे हो ! वहाँ तुम्हारा नाम पुकारा गया था !"

"कैसी बात करते हो विवेक ! मैं रुपया ही नहीं जमा कर पाया और वहाँ मेरी अबसेंट लग रही है ! ऐसा नहीं हो सकता। यह प्रभाकर कोई दूसरा होगा।"

"चुगद हो तुम ! प्रभाकर न दूसरा है, न तीसरा । हमारे क्लास में एक ही प्रभाकर है और वह तुम हो । समझ गये तथागत दि ग्रेट ? और हाँ प्रोफेसर गुप्ता स्पेशज़ी तुमको पूछ रहे थे। अरे भाई नक्शे हैं

तुम्हारे। एम० ए० (प्र० वर्ष) में जब फर्स्ट डिवीजन के अंक प्राप्त किए तब तुम्हारी खोज न होगी तो किस की होगी।" "

**—दूखन लागे नैन, ५८, ५९**

यह वार्तालाप दो हमजोली छात्रों का है। अँग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग कितना स्वाभाविक लगता है। जिसने ध्यानपूर्वक अधकचरी अँग्रेज़ी जानने वालों की भाषा को उनके श्रीमुख से सुना है वह जानता है, और भली भाँति जानता है कि जब अँग्रेज़ी वाक्यावली की शिखरिणी के सामने असमर्थता की शिलाएँ आ टकराती हैं तो मन का वेग मातृभाषा के प्रशस्त पथ की टोह में इधर-उधर भटक कर प्रारम्भ यहाँ से करता है—'मेरे कहने का तात्पर्य यह कि······।' दूसरा कहता जाता है—'आइ नो इट, आइ नो इट।' उपन्यासकार का काम भाषा का सुधार करना नहीं होता। वह तो वही भाषा लिखता है जो उसके पात्र बोलते हैं।

जिन पात्रों का समायोजन उपन्यास में किया जाता है उनकी स्थिति कुछ विचित्र-सी होती है। साधारण बातचीत में तो यदि एक व्यक्ति ने दूसरे से प्रश्न किया, कि 'आप ने आगरे का ताजमहल देखा है क्या?' तो दूसरा कहेगा—'हाँ।' बस इतने से काम चल गया। उपन्यास का पात्र इतनी संक्षिप्तता संयोजित नहीं करता। वह तो झट से कहेगा—'क्या कहने हैं साहब! ताजमहल के। प्रतीत होता है खुदा ने अपने हाथों सँवारा हो।' और यही इतना नहीं जाने क्या, क्या? और फिर सभी कुछ। वाजपेयी जी के पात्रों के सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि वे मूक अभिनय नहीं जानते। वे इतने वाचाल हैं, कि बात-बात में कावा काटते रहते हैं। इसीलिए विभिन्न प्रकार के पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषा भी विभिन्नता लिए रहती है। अब एक उदाहरण मंगलामुखियों के दरबार की भाषा का देखिए:—

> "तुरंत बूँदी वहाँ आ पहुँची। कुटिल मुस्कान के साथ सहानुभूति प्रकट करती हुई वह बोली—'मुझे बड़ा अफसोस है कि मैंने नाहक आपको तकलीफ दी। मुझे पता नहीं था कि आप लिफाफिए रईस हैं, असल में आपके भीतर पोल है और आप वक्त जरूरत पर दस पाँच हज़ार रुपये भी अपनी आबरू बचाने के लिए खर्च नहीं कर सकते। रोज़मर्रा के खर्चे भर का इन्तज़ाम जो आपके बुज़ुर्ग लोग कर गये हैं उसी के भरोसे आप ख़याली लुत्फ उड़ाते हैं। अगर मुझको पहले से यह इल्म होता तो मैं आपको कतई तकलीफ़ न देती। आप यह भी न सोचें कि मैंने आपको ज़बरदस्ती रोक रक्खा है। आप जब चाहें खुशी-

खुशी जा सकते हैं। हालाँकि आपके आराम के लिए यहाँ हर एक चीज़ मुहैया है। मैं हर तरह से आपकी खिदमत करने के लिए तैयार हूँ। रुपये की अज़हद ज़रुरत ज़रूरत न होती तो मैं आपको कतई तकलीफ न देती। अब भी मैं आपको तकलीफ नहीं देना चाहती। यही ज़रा-सा ख्याल हो आता है कि आप एक इज़्ज़तदार आदमी हैं और अगर आपकी बदनामी होगी तो पता नहीं आपके दिल पर क्या गुज़रे। ऐसे मौकों पर आदमी क्या नहीं कर गुज़रता। इसी वक्त मैं आपके चेहरे को जो देखती हूँ तो मुझे एक खौफनाक ख्याल हो आता है। आज जब आप तशरीफ ले आये थे, तो आप का चेहरा गुलाब के फूल की मानिंद खिला हुआ था। मगर इस वक्त अगर कोई देखे तो कसम से वह डर ज़रूर जाय। मैं आपको ज़्यादा तकलीफ नहीं दे सकती। अगर आपकी तबीयत खुश रहेगी, तो कभी न कभी आप मुझे फल ही जायेंगे। रुपया मुहब्बत के आगे कोई हस्ती नहीं रखता। मैं आपको अभी लाल परी से मुलाकात कराए देती हूँ, बात की बात में वह आपका ग़म ग़लत कर देगी।"

**—निमंत्रण, पृष्ठ २३०**

प्रतीत होता है कि बूंदी के मन पर कोई तीव्र प्रतिक्रिया हुई है। भावना में बहक कर अपने मन की बातें कहती जा रही है। यद्यपि यह कथन बहुत बड़ा हो गया है; किन्तु उपन्यास में इस प्रकार के कथनों की खपत हो जाती है। नाटक में इतने लम्बे कथन उपयुक्त नहीं माने जाते। इतने लम्बे कथन में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह सचमुच अटारियों की भाषा है जिसके लिए बड़ी-बड़ी कीमतें चुकाई जाती हैं। यद्यपि इस भाषा में प्यार नहीं, दुत्कार है; लगाव नहीं, अलगाव है। सम्प्रसारण की दृष्टि से भाषा में जो आकर्षण है वह अपने पाठक को अपने साथ लिए रहता है। इसी प्रकार के अन्य प्रसंगों में प्रयुक्त भाषा में उस स्थान विशेष से सम्बंध रखने वाले शब्द आये हैं। और बिना तत्सम्बंधित शब्दों के मौलिकता बाधित होती है।

जहाँ कहीं वाजपेयी जी ने गाँव का चित्रण किया है वहाँ ग्रामीण शब्दों का बाहुल्य है। यहाँ तक कि 'शुक्ल जी' सुकुल जी हो गये हैं और उन्होंने 'अंगरक्षक' के स्थान पर अँगरखा पहन लिया है। महराज, हुकुम, माई, झोंटा, बिटिया, धीरज, राँड़, कारज, पंछी, पिंजरा, सुपारी, कक्का, टूँगना, बरम्हाँ, परसाद, टेंट, दो टूक, पलवा, टण्टा, हिरदय, महतारी, न्योता, चौकस, चबेना, सुजनी, बिछावन, गिरवां, इटखुर्रा, टुकुर टुकुर, चिमिरखी, टुर्रा आदि शब्दों के प्रयोग कुछ कहते

हैं। ये प्रयोग कहीं तो ग्रामीण चित्रण उपस्थित करते हैं और कहीं अनायास प्रयुक्त किये गये हैं। पौधे के स्थान पर बिरवा, मिट्टी के स्थान पर माटी, ग्राम के स्थान पर गाँव शब्दों के प्रयोग अधिक आकर्षक और मनोहर प्रतीत होते हैं। वाजपेयी जी की भाषा में इस प्रकार के प्रयोग सर्वत्र मिलते हैं। लोकभाषा के शब्दों की इतनी भरमार भी नहीं है कि लेखक की अपनी भाषा उसके शब्दों की बटालियन के आगे घुटने टेक दे और इतनी कमी भी नहीं है कि पाठक ग्राम-माधुरी के लिए तरस जायं। शब्दों के प्रयोगों में सर्वत्र आवश्यकता और उपयुक्तता का ध्यान रखा गया है। गाँव के पात्रों के मुख से उनकी भाषा के शब्दों के प्रयोग कितने स्वाभाविक लगते हैं। वाजपेयी जी के 'भूदान' में लोकभाषा के शब्द पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। अन्य कृतियों में भी ऐसे प्रयोग यत्र तत्र बिखरे हैं।

अब एक ऐसा उदाहरण लिया जाय जिसमें शहरी व्यक्ति; और व्यक्ति क्यों ज़िलाधीश महोदय गाँव की एक सभा में भाषण दे रहे हैं। यहाँ राजकीय कर्मचारी की भाषा पर ध्यान दीजिए :—

> "फिर मंच पर आकर ज़िलाधीश महोदय ने गाँव की जनता के सामने भाषण देते हुए कहा—'हम सभी लोग, जो मुल्क को आज़ाद देखने का एक सपना लेकर पैदा हुए थे, अब अपने कंधों और सिरों पर एक बड़ी ज़िम्मेदारी का बोझ ढोते हुए चल रहे हैं। कभी-कभी वह बोझ इतना भारी हो जाता है कि हम उसे सम्हाल नहीं पाते। हालाँकि हम मन ही मन डरते रहते हैं कि वे लोग क्या कहेंगे जो हमसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखने लगे हैं। कभी-कभी वह बोझ हमारे सिर से अपने आप गिर भी पड़ता है। जब हमारी गर्दन उसे सम्हाल नहीं पाती तो ज़ाहिर है कि वह डगमगा उठती है।
>
> अब आप अगर सोचें कि हमारा यह सेवक नालायक़ है तो मैं कहूँगा कि आपने जो ज़बान पायी है उसे पूरा हक़ यानी अधिकार है कि वह जो चाहे कहे। मगर इतना मैं जरूर कहूँगा कि आज की जम्हूरित आई मीन डेमोक्रेसी यानी प्रजातंत्र के इस ज़माने में कोई भी सेवक अपने पहले वाले मानी में ग़ुलाम नहीं रह गया बल्कि आपका सहायक और साथी बन गया है। उसे आपकी सहायता और आपके सहयोग की जरूरत है। मानाकि आपको दिक्क़तें हैं, यह भी माना-कि आये दिन कुछ मसले ऐसे भी आपके सामने आते रहते हैं, जिन्हें हम जल्दी नहीं हल कर पाते। पर क़ुदरत के इस नियम को आप क्यों

भूल जाते हैं, कि हर रात के बाद दिन ज़रूर आता है, हर तकलीफ़ के बाद सुख ज़रूर मिलता है।"

—**सपना बिक गया, पृष्ठ ३१६**

इस भाषण की भाषा पढ़ने से ऐसा लगता है कि यह किसी ऐसे ओहदेदार की भाषा है जिसकी नियुक्ति तो स्वतंत्रता के पहले की है किन्तु भाषण बाद का है। किन्तु यदि भारत के समस्त ज़िलाधीश भाषणों में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करें तो समझ लेना चाहिए कि हिन्दी का भविष्य मंगलमय है। इसमें कुछ शब्द अन्य भाषाओं के हैं; किन्तु वे इतने प्रचलित और सरल हैं कि सहज ही बोधगम्य हैं। कुछ प्रयोगों में व्यंजना प्रधान है और कुछ सीधेसादे ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं।

यहाँ तक तो हुई पात्रानुकूल भाषा की बात। अब इस बात पर विचार करना है कि किसी भी उपन्यास में पात्र ही सब कुछ कहते हैं कि और कोई भी कहने वाला होता है। वस्तुतः पात्रों के कथन के अतिरिक्त लेखक की अपनी बात रहती है, अपना पृथक् दृष्टिकोण रहता है। अपनी रुचि और आवश्यकतानुसार वह अपनी बात कहता जाता है। आत्मप्रधान शैली में लिखे हुए उपन्यासों में तो प्रायः सभी कुछ पात्र कहते हैं; किन्तु वर्णनात्मक शैली में तो लेखक के लिए बड़ा अवकाश रहता है।

वाजपेयी जी के उपन्यासों में जितना कथन लेखक का है उसकी भाषा पात्रों की भाषा से पृथक् है। अपने मन की भाषा देने का अवकाश पात्रों के प्रसंग में लेखक को नहीं मिलता। वहाँ तो जिस वर्ग का पात्र होता है वैसी ही भाषा होती है; किन्तु जो बातें लेखक अपनी ओर से कहता है, उसके सम्बंध में वह स्वतंत्र है। एक स्थल पर शब्दों की पुनरुक्ति भाषा को कितनी सशक्त बनाती है—

'समस्त आह्वान और निमंत्रण विफल हो जाते हैं, जब आदर्श के आंगन में आग लग जाती है। हँसती हँसती आँखें पथरा जाती हैं और पुष्प जो टहनियों पर पवन झकोरों से इठलाते और झूमते रहते हैं, झुलस झुलस कर, जल जल कर अन्त में धूल के कण बन जाते हैं।"

—**सूनी राह, पृष्ठ १८१**

अपने उपन्यासों में प्रयुक्त वाजपेयी जी के उपन्यासकार की भाषा के स्वरूप देखने के लिए हमें निम्नलिखित विचारसरणियों को ध्यान में रखना होगा :—

१. चित्रण की भाषा [चरित्र, प्रकृति, वस्तु आदि]
२. दार्शनिक विवेचन का प्रसंग
३. सूत्रों में प्रयुक्त भाषा का स्वरूप

४. सामान्य भाषा

पहले चित्रण की भाषा के सम्बंध में विचार कर लिया जाय। सामान्य रूप से वाजपेयी जी अपने चित्रणों में काव्यात्मक भाषा का व्यवहार करते हैं। उनके यहाँ कभी तारे रोते हैं, कभी चन्द्रमा हँसता है, कभी उषा मुसकराती है और कभी अपने श्यामांचल में रजनी तारिकाओं के सितारे जड़ लेती है। इस प्रकार की भाषा से किसी कथा का क्रम आगे नहीं बढ़ता है, अपितु हृदय को द्रवीभूत करने वाले एक मनोहर वातावरण की सृष्टि होती है। उपन्यास में सरसता लाने के लिए इस प्रकार की संयोजना ग्राह्य है। प्राकृतिक दृश्यावलियों को चित्रित करने में तो पूरे वाक्यों का प्रयोग पाया जाता है किन्तु किसी विशेष चरित्र के चित्रण में वाक्यों को तोड़-मरोड़कर भी रखा गया है। और कभी-कभी तो वाक्यांशों से काम चला लिया गया है। जैसे—कृश काय, नासिका लम्बी, बाल लम्बे घुँघराले और घने, उन्नत ललाट और वृषभ स्कंध आदि। कुछ एक चरित्रों के चित्रण की भाषा का रूप देखिए :—

> "राजीव जिस सर्ज का कोट पहने है, उसी का पैंट भी है। उसकी टाई बैंजनी रंग की है, जिसके अन्दर की तिरछी धारें ब्राउन हैं। कोट के जेब में जो रूमाल है, वह फाउण्टेनपेन से फँस गया है। उसके मस्तक पर हरिद्रा अक्षत मिश्रित तिलक है और दाएँ हाथ की अनामिका में पुखराज के नग की अँगूठी। डब्बे के दक्षिण ओर जो खूँटियाँ लगी हुई हैं उनमें से एक पर राजीव का हैट टँगा हुआ है और दूसरी पर गुलाब के फूलों का एक बड़ा गजरा लटक रहा है। फर्श पर भी गुलाब के दल बिखरे पड़े हैं। राजीव के हाथ में 'लिटरेरी डाइजेस्ट' का जनवरी का अंक है और रमा के एक हाथ में रूमाल दूसरे में 'सचित्र नवयुग' का नया अंक। उसकी दृष्टि उसी पृष्ठ पर स्थित है जिसमें नवदम्पतियों के चित्र छपे हैं। उसके मन में आता है—'इसी पृष्ठ पर हम लोगों का भी चित्र प्रकाशित होगा'।"

**—विश्वास का बल, पृष्ठ २०१**

इस प्रसंग में राजीव से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओं के नाम आये हैं। प्रचलन के अनुसार लेखक ने उनका प्रयोग किया है। कोट, सर्ज, ब्राउन, जेब, रूमाल, फाउण्टेनपेन, हैट, फर्श आदि शब्दों के प्रयोग ही चित्रण को सजीव बनाते हैं। भारतीय जन-जीवन में प्रयोग होने वाले अनेक अन्य भाषाओं के शब्द हिन्दी में अपना स्थान बना चुके हैं, इसलिए उनका प्रयोग अस्वाभाविक नहीं लगता। यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि क्या इन शब्दों के स्थान पर

उपन्यासकार अन्य शब्दों का प्रयोग करे ? शब्दों का इच्छानुसार प्रयोग उपन्यासकार नहीं कर सकता। शब्दों के प्रयोग में उपन्यासकार की अपेक्षा निबंधकार अधिक स्वतन्त्र है। नदी, सागर, ट्रेन, विद्यालय, मरुभूमि, आदि के वर्णन और चित्रण में उसी प्रसंग के शब्दों का प्रयोग अच्छा लगेगा। वाजपेयी जी के चरित्रों के चित्रण की भाषा में सरलता, स्पष्टता और विविधता पायी जाती है। शब्दों और वाक्यों के गठन में वाजपेयी जी सदैव सतर्कता से काम लेते हैं। टकसाल से निकले हुए शब्दों का प्रयोग वास्तविक रूप की भाँकी प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। नाटकीयता के कारण भाषा में रूखापन नहीं आने पाया। पाठक की तल्लीनता और अभिरुचि को कहीं भी ठेस नहीं लगती है। इसी प्रकार प्रकृति के चित्रणों में भी उसी से सम्बन्धित शब्दावली का प्रयोग किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि प्राकृतिक चित्रण की भाषा काव्यात्मक हो गयी है। कविता का सम्बन्ध भी तो प्राकृतिक प्रसंगों से अधिक होता है अपेक्षाकृत कृत्रिम व्यापारों के। वाजपेयी जी के उपन्यासों के कुछ प्राकृतिक चित्रणों का उदाहरण लिया जा सकता है:—

> "अमावस की रजनी जितनी श्याम घन थी उतनी ही शान्त मूक। राजपथ के किनारे-किनारे श्वेत नाल प्रकाश के बल्ब, उच्च प्रासादों और वीथियों से सागर की हिलोरों पर हौले-हौले, हिलते-डोलते रमा के संकल्प से कुछ अभिसंधि-सी कर रहे थे। मैरीन ड्राइव के तट पर रत्नाकर का ज्वार सदा की भाँति उच्छल कौतुक प्रदर्शन में लीन था।"
>
> **—विश्वास का बल, पृष्ठ २४१**

ऐसे प्रसंगों में प्रयत्न इस बात का किया गया है कि शुद्ध साहित्यिक शब्दों का प्रयोग किया जाय; किन्तु अमावस्या के स्थान पर अमावस का प्रयोग अधिक प्रिय लगता है। पाठक यह समझता है कि यह शब्द तो मेरे घर का है। मैं इससे परिचित हूँ। मानव-मर्म के नाना व्यापारों के साथ प्रकृति के बहु-विध रूपों का तादात्म्य चित्ताकर्षक होता है। इस प्रकार की स्थिति वाजपेयी जी के उपन्यासों में जहाँ कहीं आयी है वहाँ की भाषा काव्यात्मक हो गयी है। शब्दों का चुनाव मनोहर हुआ है। यह सारी व्यवस्था अपने अन्तराल में स्वाभाविकता लिये हुए है।

काव्यात्मक भाषा वाले ये अंश प्रायः प्रत्येक कृति में पाये जाते हैं। ऐसी भाषा के संयोजन की कोई व्यवस्था विशेष नहीं है। लेखनी की स्वाभाविक गति के परिणामस्वरूप इसे रूप मिलता गया है। वाजपेयी जी की शैली जटिलता की ओर उन्मुख न होकर ऋजुता की ओर गयी है। यही कारण है कि भाषा में सरलता आयी है, प्रसंग चाहे जैसा हो।

वस्तु-चित्रण में भी भाषा का रूप स्वाभाविक और जनसामान्य सुलभ एवं बोधगम्य है। छोटे-छोटे वाक्यों में चित्रित वस्तु से सम्बन्धित शब्दावली लेकर भाषा का रूप खड़ा किया गया है। वस्तु-चित्रण की भाषा की बानगी इस प्रकार है :—

> "कमरा साढ़े पाँच और साढ़े सात फीट का होगा। दीवारें फीके आसमानी रंग से पुती हुई। दो द्वार हैं जिनके कपाट टूटदार हैं। द्वारों के बीच में छै फीट चौड़ा एक खम्भा है, जिसमें एक आला है। उसमें राष्ट्रपिता बापू की एक कांस्य-मूर्ति, जिसमें वे हाथ में लाठी लिए हुए चलते दिखाये गए हैं। दायीं ओर एक बड़ा कैलेण्डर टँगा हुआ है, जिसमें प्रधानमंत्री नेहरू कुछ सोचने की मुद्रा में अपने ही मानस में खोये हुए बैठे हैं। उत्तर और पूर्व के कोनों में लम्बी तिपाइयाँ, जिनमें हँसों की कलात्मक मूर्तियाँ सुशोभित हैं। इन्हीं तिपाइयों पर आगे धूपदानी है, जिनमें खुली हुई अगरबत्तियाँ सौरभ बिखेर रही हैं। दक्षिणी दीवार से लगा एक बड़ा तख्त पड़ा है, जिस पर गद्दा और खादी की सफेद चादर और मसनद है, वर्गाकार तकिये यत्र तत्र पड़े हैं।"
>
> **—चन्दन और पानी, पृष्ठ ४७, ४८**

प्रस्तुत अवतरण में कमरा, फीट, दीवार, आसमानी, खम्भा, कैलेण्डर, तिपाई, तख्त तथा मसनद आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुस्थिति क्या है। वाजपेयी जी के उपन्यासों की भाषा में प्रयुक्त ये शब्द स्वयं चित्रण प्रस्तुत कर देते हैं। वर्तमान समाज के आधुनिक रूप का चित्रण होने के कारण भाषा की शब्दावली बहुत कुछ वैसी ही है जैसी कि बोली जाती है। इस कोटि के चित्रण सभी उपन्यासों में हैं और कुल यही विशेषता पायी जाती है।

वाजपेयी जी की दार्शनिक शब्दावली कुछ अधिक साहित्यिक हो गयी है; क्योंकि अपनी प्रकृति के अनुकूल वे ढूँढ़-ढूँढ़कर हिन्दी शब्दों का प्रयोग करते हैं। एक बार एक कवि महोदय ने वाजपेयी जी को एक कविता सुनायी। 'सुनायी' शब्द के स्थान पर 'कही' शब्द अधिक उपयुक्त होगा। उस कविता में एक अंश था—'कहानी मैगज़ीन'। सुनते ही वाजपेयी जी तुरन्त बोले—"क्यों भाई, 'कहानी मैगज़ीन' क्यों? 'स्टोरी मैगज़ीन' क्यों नहीं? या 'कहानी पत्रिका' क्यों नहीं?" इससे यह पता चलता है कि उन्हें बेमेल भाषा का रूप ग्राह्य नहीं। यद्यपि जहाँ कहीं उन्होंने आवश्यकता समझी है वहाँ निस्संकोच अपनी खिचड़ी अलग पकाई है; किन्तु उसका अपना स्वाद निराला है।

कानपुर के ए० बी० रोड वाले चौराहे पर खड़े एक काषाय वस्त्रधारी

पागल (कुछ लोगों के अनुसार 'फिलासफर') की भाषा पर ध्यान दीजिए :—

"आज हम कितने अंधे हो गये हैं ! हमें इस बात का बोध ही नहीं होता कि जिसको हम प्रेयसी बनाने जा रहे हैं; वेश्या के रूप में, अपने घर के अन्दर या समाज में, रंगमंच या रजतपट पर जिसका कामुकता-पूर्ण नृत्य देखकर तालियाँ पीट रहे हैं, ललचा रहे हैं, फंदा फेंकते और डोर डाल डाल रहे हैं, यह भी हो सकता है कि वह मेरी दादी या माँ रही हो ! चाची रही या बुआ···। इस अन्धता की सीमा कहाँ है। हम सब अन्धे हैं और इस पर तुर्रा यह है कि इस अन्धता के लिए हमने एक बहुत बढ़िया शब्द गढ़ डाला है, जिसका नाम है सभ्यता, जिसको हम तहज़ीब और कल्चर कहते हैं।···हा···हा···हा···हा !"

**—यथार्थ से आगे**

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक वाक्य बड़ा पैना है। इतना पैना कि हृदय को बेधता हुआ चला जाता है। भाषा की गति यहाँ तीव्र है। प्रत्येक वाक्य का वेग पाठक के मन को बड़ी शीघ्रता के साथ आगे बढ़ा देता है। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किसी जोशीले भाषण या भावना-प्रधान आत्मकथन में पाया जाता है। भाषा का रूप बहुत कुछ विषय-वस्तु पर भी निर्भर करता है। 'सूनी राह' और 'टूटते बंधन' की भाषा में जो प्रवाह और गति है वह 'सपना बिक गया' और 'राजपथ' की भाषा में नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि 'सूनी राह' और 'टूटते बंधन' की विषय-वस्तु में गम्भीरता कम है। 'राजपथ' का विषय मानवता, समाज की प्रताड़ना, लोकमंगल के प्रति निष्ठा और जन-कल्याण का है। इसलिए भाषा भी कुछ उसी प्रकार की गंभीर और साहित्यिक हो चली है। मुझसे तो वाजपेयी जी के एकाध पाठकों ने कहा कि उन्हें 'गोमती के तट पर' उपन्यास की भाषा कठिन लगी है। वस्तुतः बात यह हुई है, कि सिनेमा के सागर में गोता लगाने पर 'बोली' अधिक समझ में आती है और भाषा कठिन लगने लगती है। इसमें भाषा की अक्षमता क्या है ? यह भी आजकल की सभ्यता का एक रूप है कि अपनी दुर्बलता को गुप्त रखा जाय और कृत्रिम पुरुषार्थ की व्याख्या प्रस्तुत की जाय। यदि कहीं दुर्भाग्य से वाजपेयी जी के उपन्यासों का फिल्मीकरण हुआ तो भाषा का रूपान्तर अवश्य किया जायगा। दुर्भाग्य से इसलिए, क्योंकि हिन्दी उपन्यासों और कहानियों की जो दुर्गति अभी तक सिनेमा के पर्दे पर हुई है वह किसीसे छिपी नहीं है।

अब आइए, उन सूत्रों की भाषा को भी देख लिया जाय जिनका प्रयोग वाजपेयी जी ने अपने उपन्यासों में किया है। सूत्र का तात्पर्य है, कि अधिक अर्थ-

पूर्ण बात को थोड़े में कह देना। सूत्र अपने लघु रूप के अन्दर अनेक अर्थ छिपाये रहते हैं। आकार-प्रकार तो सूत्रों का छोटा होता है; किन्तु उनका अर्थ विशद होता है। रूप छोटा होने से सूत्रों में ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जाता है जो अपने छोटे रूप में अधिक अर्थ लिए हों। सूत्रों की भाषा के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए विभिन्न उपन्यासों के कुछ सूत्र वाक्य देखिए :—

(१) "अस्तित्व की रक्षा ही नहीं, उसके उद्भव के लिए भी दृढ़ता की आवश्यकता होती है।"

(२) "प्रकृति की नैसर्गिक लीलाओं में कभी अन्तर नहीं पड़ता।"

(३) "पीड़ा चाहे जितनी गहरी हो उसको सहना ही हमारा धर्म है।"

(४) "बहुतेरी आशंकाएँ केवल मोह के कारण अन्तर्मन में जगह बना लेती हैं।"

**—अधिकार का प्रश्न**

(५) "पति के साथ नारी के अहम का कोई नाता नहीं होता।"

(६) "नियति अन्त में अपनी कैंची चला ही देती है।"

(७) "विश्व का समस्त ज्ञान जीवन के अनुभवों का निष्कर्ष है।"

(८) "एक मनुष्य है, जो प्रकट रूप में बैठा, खड़ा या लेटा हुआ है, किन्तु वास्तव में गतिशील है।"

**—विश्वास का बल**

(९) "मनुष्य तो जीवित रहते हुए भी मर जाता है यदि वह सदा न्यस्त स्वार्थों में व्यस्त रहता है।"

(१०) "सुख-दुःख के विशिष्ट अवसरों पर अपने-अपने आत्मीय जनों की याद सबको आती है।"

(११) "पापी और दुरात्माएँ जब असहाय और विपन्न हो जाती हैं तब कहते हैं कि इस जगत् का निर्माता मन-ही-मन मुसका उठता है।"

**—राजपथ**

(१२) "मन, वचन और कर्म की एकता ही सर्वोदय का सबसे बड़ा लक्षण है।"

(१३) "हमारा सारा विवेक परिस्थिति सापेक्ष है।"

(१४) "सुविधाओं से लाभ उठाने में कोई बुराई नहीं है।"

**—सूनी राह**

(१५) "संघर्ष में न पड़कर बुद्धि की सारी उत्तेजनात्मक वृत्तियाँ मन्द और शिथिल पड़ जाती हैं।"

(१६) "वचन और कर्म में इतना अन्तर आ गया है, कि मनुष्य आदमी के रूप में बर्बर पशु बन गया है।"

**—चन्दन और पानी**

(१७) "दिल में जगह हो तो सब कुछ मिल जाता है।"

(१८) "भाषा में अगर कृत्रिमता होती है तो मानस में एक बदबूदार जहर भर जाता है।"

**—टूटते बंधन**

सबसे अन्तिम उद्धरण में वाजपेयी जी का एक पात्र भाषा के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य व्यक्त करता है। भाषा में बनावटीपन आने से विचारों का आकर्षण समाप्त हो जाता है। इन सूत्र वाक्यों की भाषा में कोई विशेष अनोखापन नहीं पाया जाता। सरल शब्दावली में अपनी बात कही गई है। ये वाक्य विभिन्न परिस्थितियों में कहे गये विभिन्न पात्रों के हैं इसलिए लेखक के मन्तव्य का इनके साथ तालमेल बैठना आवश्यक नहीं है। इतनी बात इन वाक्यों में अवश्य पायी जाती है कि इनमें अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग जहाँ तक बना है, कम किया गया है। हाँ, मन न मानने पर लेखक ने कहीं-कहीं इस बंधन को ढीला किया है। यही बात दार्शनिक प्रसंगों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। बीच-बीच में इन वाक्यों के आने से भाषा गंभीर हो गयी है। छोटे-छोटे वाक्यों में अधिक अर्थ भरा हुआ लगता है।

सामान्य रूप से भाषा को स्वाभाविक बनाने के लिए वाजपेयी जी ने बच्चों की तुतली भाषा का भी प्रयोग किया है। व्याकरण की शुद्धता से कोसों दूर रहकर भी बच्चे के मुख से उसकी तोतली वाणी कितनी भली लगती है—'हूँ, तुम यहीं बैथे-बैथे तै देते हो ति तुम्हाले लिए छाइतिल बाजाल में नहीं आयी! तुम तानपुल जातर देथते त्यों नईं? ऐछा होइ नई छत्ता ति वले वले लोदों ते लिए तो बाजाल में छाइतिल आए और अम लोदों ते लिए तबी न आए।' [टूटते बंधन, पृष्ठ ५०] जहाँ कहीं लेखक ने अपनी ओर से अपने विचार व्यक्त किये हैं वहाँ व्याकरण का समुचित ध्यान रखा गया है। किन्तु कभी-कभी किसी विशेष बात को अधिक प्रभावयुक्त बनाने के लिए शब्दों की स्थिति वाक्य में बदल दी गयी है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि किसी वाक्य-विशेष के अंतिमांश को आगामी वाक्य का प्रथमांश बना दिया गया है।

वाजपेयी जी के उपन्यासकार की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है—उसकी

व्यंजना शक्ति। व्यंजना शक्ति के ही बल पर उनकी भाषा आकर्षक, बलवती और अर्थवती होती गयी है। आलंकारिक प्रयोगों के कारण भी भाषा में सौष्ठव आया है। वाजपेयी जी की लेखनी कभी तो 'मन की गाँठ खोलती है', कभी 'ज़बान तेज़ कर देती है'। उसके माध्यम से कभी 'देवता फूल बरसाने लगते हैं', कभी 'दसों दिशाएँ खिलखिला उठती हैं', कभी 'रायता नम्बर मारता जान पड़ता है', और कभी 'मुकदमा चूल्हे में चला जाता है'। मुहावरों के प्रयोगों के आधार पर आयी हुई व्यंजना भी भाषा को कम आकर्षक नहीं बनाती। वाजपेयी जी को मुहावरों का जाल पसन्द नहीं; किन्तु कहीं उनके रेशमी धागे इतने मनोहर और चमकदार हैं कि मन को लुभा लेते हैं। इस प्रकार की भाषा सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ वाजपेयी जी के सभी उपन्यासों में पायी जाती हैं। साहित्यिक और संस्कृतगर्भित भाषा के लिए 'राजपथ', 'विश्वास का बल', 'पिपासा', 'गोमती के तट पर', 'टूटते बंधन', 'सूनी राह', 'यथार्थ से आगे', 'चलते-चलते', 'टूटा टी सेट', 'अधिकार का प्रश्न' तथा 'निमंत्रण' आदि कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। तकनीक की दृष्टि से उनकी सभी कृतियाँ एक जैसी हैं।

सर्वथा नयेपन के चक्कर में पड़कर वाजपेयीजी ने अपने उपन्यासों में अनगढ़ शब्दों के प्रयोग नहीं किये हैं। सामान्य प्रचलित शब्द ही प्रायः प्रयोग में आये हैं। कौन शब्द कहाँ भली-भांतिउपयुक्त हो गा ?—वाजपेयी जा की लेखनी यह बात भली-भांति जानती है। कभी-कभी तो इस सन्दर्भ में उनका कवि सजग प्रतीत होता है, क्योंकि कविता के शब्दों का प्रयोग गद्य में सरसता लाने में अधिक सहायक होता है। कॉमटन मेकेंज़ी तो प्रायः कहा करते थे, 'मैंने गद्य लिखना कीट्स की कविताएँ पढ़कर सीखा है।' यह बात मैं कह चुका हूँ कि वाजपेयी जी का लेखक मूलतः कवि है। इसी कारण उनकी भाषा में हास्य, करुणा, दया, ममता, क्रोध आदि मनोभावों को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करने वाले उपयुक्त शब्दों के प्रयोग मिलते हैं।

साहित्य जगत में प्रायः यह देखा जाता है कि कवि या लेखक अपने पूर्ववर्ती कवि या लेखक से अवश्य प्रभावित होता है। यह प्रभाव शिल्प, शैली और भाषा आदि से सम्बन्धित होता है। शिल्प और शैली का मेल तो कठिन है, किन्तु भाषा का मेल स्वाभाविक है। वाजपेयी जी की भाषा और शैली दोनों अपने पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक लेखकों से प्रभावित नहीं है। वह अपने में सर्वथा मौलिक है। इसी मौलिकता के कारण भाषा और शैली की सर्जना में वे आगे निकल गये हैं।

# ७ | युग-बोध

यद्यपि साहित्यकार को स्वतन्त्र चेता कहा जाता है, किन्तु कोई भी साहित्यकार युगनिरपेक्ष साहित्य-सर्जन नहीं कर सकता। कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में साहित्य में साहित्यकार-विशेष के युग की झलक अवश्य मिलती है। वाजपेयी जी का साहित्य वस्तुतः युग की अनुभूतियों पर आधारित है। उन्होंने केवल कल्पना के सहारे आकाश-कुसुमों का चयन नहीं किया है। और अब तो वह युग भी बीत चला जब उपन्यास को केवल मनोरंजन का साधन माना जाता था। वर्तमान स्थिति तो यह है कि उपन्यास साहित्य की वह विधा है जिसके आधार पर हम युग-चिन्तन और युग-प्रवृत्ति चित्रित करते हैं। किसी समय रूस में टाल्स्टाय ने, फ्रांस में एम० एमिल ज़ोला ने और इंगलैण्ड में जॉर्ज मेरेडिथ ने अपने-अपने उपन्यास-साहित्य को विचार-प्रकाशन का माध्यम बनाया था। हिन्दी उपन्यासों में जब से समाज को स्थान मिला तब से स्थिति पूर्ण रूप से दूसरी हो गयी है। उपन्यास में आज अपना युग बोल रहा है, सामाजिक चेतना के रेशमी धागों से उपन्यास का तानाबाना तैयार किया गया है। कुरूपता इतनी है कि जुगुप्सा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता; साथ ही जनकल्याण की प्रवृत्तियाँ इतनी हैं कि मानव का मानसलोक पुलक और आनन्द से तृप्त हो जाता है।

वाजपेयी जी के समस्त उपन्यास सामाजिक हैं जिनके चित्रण की शैली मनोवैज्ञानिक है। सामाजिक उपन्यासों में युग-बोध उभरकर पाठकों के सामने आता है। सन् १९२६ ई० से लेकर आज तक के समाज का चित्रण वाजपेयी जी के उपन्यासों में मिलता है। यदि उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे होते तो उनमें अतीत के चित्र मिलते। किन्तु उन्हें तो मन भाया अपना समाज जिसमें उन्होंने जन्म लिया है और जिसमें पलकर जीवन-यापन कर रहे हैं।

वाजपेयी जी के उपन्यासों में युग-बोध का पता लगाने के लिए हमें दो बातों पर विचार करना होगा—(१) लेखक ने युग के अनुकूल अथवा प्रतिकूल अपनी क्या मान्यताएँ व्यक्त की हैं? (२) पात्रों के माध्यम से युग सम्बन्धी विचार किस प्रकार के हैं? वर्णनात्मक शैली में लिखे गये उपन्यासों में लेखक

के स्वयं कुछ कहने का अवकाश कुछ कम होता है, जबकि स्वयं कथन शैली में लेखक को अपनी मान्यता व्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता रहती है। वाजपेयी जी का 'चलते-चलते' उपन्यास स्वयं कथन शैली में लिखा गया है। सर्वप्रथम युग-बोध की दृष्टि से इस कृति पर विचार करना होगा। इसका कारण यह है कि इस उपन्यास की शैली और उपन्यासों के मेल में नहीं है। अन्य उपन्यासों में तो यह भी हो सकता है कि एक ही बात दुहराई गयी हो। 'अवतरण' वाले प्रसंग में यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि वाजपेयी जी की प्रथम कृति का प्रकाशन सन् १९२६ में हुआ था और 'चलते-चलते' की रचना के समय तक लेखक युग के नाना व्यापारों से परिचय प्राप्त कर चुका था। उसे युग सम्बन्धी मधुर और तिक्त अनुभव प्राप्त हो चुके थे।

'चलते-चलते' की पूर्व कथा में कहा गया है कि 'यह कथा न तो एकदम से काल्पनिक ही है, न सत्य कथन।' वास्तव में यह दोनों का एक मिश्रित रूप है। लेखक सिनेमा जगत का भी दर्शन कर चुका है। वहाँ की दुनिया कुछ और ही है। उसका रूपांकन भी किसी न किसी रूप में मिल जाता है। पूर्व कथा के प्रसंग में गौरी और 'मामा' जी के विचारों में मेल नहीं पाया जाता। लेखक स्वयं किसके साथ है—कुछ कहा नहीं जा सकता। गौरी पुरानी धरती पर जीने वाले नये युग को अपनी 'दृष्टि' से देखता है, किन्तु 'मामा' जी समन्वयवादी हैं। वे वर्तमान युग में भी प्राचीन संस्कृति के अवशेष खोजते हैं। 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' में विश्व को जीतने की भावना एकांगी है। गाँव से सहायता पहुँचाने वाले लालटेन लिए हुए आ जाते हैं। इससे प्रतीति यह होती है कि जहाँ अपने ग्रामों में एक ओर अविश्वास और भय के साथ घृणा और कपट पनप रहा है वहाँ दूसरी ओर एक-दूसरे की सहायता करने वाले भी इन्हीं गाँवों में पाये जाते हैं। अँधेरी रजनी में प्रकाश की किरण मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

युग का प्रभाव जगत पर पड़ता रहता है तथा नयी मान्यताएँ युग को प्रभावित करती रहती हैं। पुराने रीति-रिवाज जर्जर होकर टूटते रहते हैं, उनके स्थान पर नयी मान्यताएँ और आस्थाएँ अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाती रहती हैं। वाजपेयी जी के 'चलते-चलते' उपन्यास में युग सम्बन्धी यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। लेखक स्वयं एक पात्र के रूप में 'युग-बोध' तत्त्व कथा के माध्यम से अपने पाठक को समझाता जाता है। यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि 'युग-बोध' का स्पष्टीकरण लेखक का धर्म है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। लेखक तो अपनी रुचि के अनुकूल ही किसी विशेष तत्त्व पर बल दे पाता है। वाजपेयी जी चरित्र को प्रधानता देते हैं। चरित्रों के चित्रण के माध्यम

से युग का जो भी चित्र आवश्यक लगा ले, लिया गया। युग-निरपेक्ष होना वर्तमान लेखक के लिए बड़ा कठिन है क्योंकि लेखन का युग-बोध अब कुछ अन्य प्रकार का हो गया है जिसमें अनुभूति का स्थान प्रथम और कल्याण का स्थान द्वितीय माना जाता है।

युग की एक ही धरती पर विभिन्न प्रकार की आकर्षक और विद्रूप चित्रावली दिखाई पड़ी; लेखक ने बड़े मनोयोग से उनका चित्रण किया है। चलते-चलते उसे आधुनिकाओं की रूपमाधुरी के दर्शन हेतु रुकना पड़ा है। विस्तृत गगन के समान उच्चाकांक्षाओं वाली रमणियाँ, जिन्हें प्रेम के बनिज कर्म में अपनी ज़िन्दगी गुज़ार देनी पड़ती है, भी इसी युग की निधियाँ हैं। प्रवंचना, शोषण और बरजोरी के दृश्य इसी जगत के हैं। मैंने तो कुछ लोगों को यह कहते हुए सुना है, कि 'बिना दुर्बलताओं के मनुष्य 'मानव' की परिभाषा के अन्तर्गत आता ही नहीं है।' उनके अनुसार यदि मनुष्य को मनुष्य कहलाना है तो उसे चाहिए कि अपने अंक में दुर्बलताओं को समेटता चले। स्पष्ट बात तो यह है कि दुर्बलताएँ मनुष्य के स्वभाव के अन्तर्गत आती हैं। युगपुरुष और महात्माओं ने भी अनुभव के आधार पर ही मानव-सुलभ दुर्बलताओं को समीप से देखा है, परखा है।

आज की सभ्यता होटल की सभ्यता के अधिक समीप है। अतिथि सत्कार हेतु अपने घर के व्यंजन अच्छे और स्वादिष्ट नहीं माने जाते। अतएव होटलों में बड़ी-बड़ी दावतें आयोजित की जाती हैं। मूल्यवान पकवानों से मन को सन्तुष्टि मिलती है। दूसरी ओर विरोधी भावना का प्रतीक क्षुधित नरकंकाल जो अपनी आयु के शेष दिनों का लेखा-जोखा नहीं समझ पा रहा है, राजपथ पर चलता हुआ सतृष्ण नेत्रों से दूकान पर सजे हुए भोज्य पदार्थों का दर्शन मात्र करता जा रहा है और ज़िन्दगी की धूप-छाँव से वह विशेष बाधित नहीं है। केवल इतना ही नहीं—पैरों के नाख़ूनों से ख़ून। ख़ून ही क्यों? साथ में लोथड़ा भी। आँख की बरोनियों में अटका हुआ मैल—तथाकथित सभ्य मानव के लिए असभ्यता का प्रतीक और जुगुप्सा का कारण—धूल चाटते हुए बाल, मुखमण्डल पर राहु के प्रतीकस्वरूप कोयले के दाग़। यह सभी कुछ अपना युग है। और इसे वाजपेयी जी के उपन्यासकार ने केवल देखा ही नहीं, देखकर दूसरों को भी दिखाया है। प्रश्न यह उठता है कि यदि विधाता इनके प्रति दयालु है तो अपने रजिस्टर से इनका नाम काट क्यों नहीं देता? जीवन की तृष्णा सभी प्राणियों के मन सदैव जागृत रहती है। इसी कारण दीन, हीन, असहाय, रोगी और न जीने योग्य प्राणी भी जीना चाहता है! मर-मरकर भी जीना चाहता है। उनसे आप यदि

मरने की बात करें तो इसका अर्थ वे यह लगाएँगे कि आप उनका अनिष्ट चाहते हैं। उन्हें जीने नहीं देना चाहते। स्वयं जीवित रहकर अकेले वसुधा के समस्त भोगों का उपभोग करना चाहते हैं। इस प्रसंग में वाजपेयी जी का उपन्यासकार कहता है :—

"लेकिन किसे इस ओर देखने का अवकाश है? कार के भीतर बैठी हुई परम पावन शुभ्र गाँधी टोपियाँ इसे देखेंगी कि एरोप्लेन के अन्दर बनने वाले कार्यक्रमों के बीच विंशतवर्षीया होस्टेज के नयन-कटोरों पर जा पड़ने वाली आँखें!"

—चलते-चलते, पृष्ठ १८

प्रस्तुत चित्रण की ओर संकेत करने का यह अर्थ नहीं कि वाजपेयी जी ने युग के मंगल के सामने आंखें बन्द कर ली हैं। वह उन्हें नहीं दिखाई पड़ा। कुत्सा, घृणा आदि ही देखा है उन्होंने। युग के मंगल को चित्रित करने में वाजपेयी जी का उपन्यासकार अद्वितीय है। पाठक ऐसे चित्रणों में इतना तन्मय हो जाता है कि बाह्य संसार का गोरख-धंधा उसे निरर्थक और निष्प्रयोजन लगने लगता है। एक चित्र देखिए :—

"यह लग्न-मण्डप है। इसकी पावन भूमि के कण-कण पर आज ये जो नाना प्रकार के स्वर गूंज रहे हैं, उनमें कितना उत्साह, कैसी उमंग, कितना आह्वान और आकर्षण है। नयन हैं, जो यत्र तत्र झांकते, चलते और दौड़ते हैं। वाणी है, जो फूटती, खिलती और संकोच विचार और व्यवहार का रूप प्राप्त कर अन्तरिक्ष में मिल जाती है। मुद्राएँ और भंगिमाएँ हैं, जो मन पर पानी की भांति चढ़कर कभी लहरा उठती और कभी तन के तुरंग पर आँधियों के छन्द बन जाती हैं। इन स्वरों, नयनों, वाणियों और मुद्राओं की सामूहिक छवि को एक बार आत्मा के शुभ्र पावन पट पर उतार लेना चाहता हूँ। एक बार इस परम मांगलिक रूपराशि के निखिल शोभा-पुंज को रंगमंच का पटोत्तोलन मान उसे इकटक निहारता हुआ युग-युग तक इसी भांति खड़ा रहना चाहता हूँ।"

—चलते-चलते, पृष्ठ २१

एक बार विश्वकवि रवीन्द्र ने कहा था, कि 'यह जो लुहार की दुकान की घूम-धकड़ है, इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ वीणा के तार तैयार हो रहे हैं, जिससे सारा संसार एक दिन झंकृत हो उठेगा।' कुछ इसी प्रकार का विश्वास वाजपेयी जी का भी प्रतीत होता है। उन्होंने युग के कल्याण और मंगल को देखा है, उसपर चिन्तन किया है, उसका चित्रण किया है और

जब इतने पर भी मन नहीं माना तो चित्रण को विविध कोटियों में बाँट दिया है। फिर चरित्र के माध्यम से कहते हैं कि ऐसी मांगलिक दृश्यावलियों के दर्शन में क्षण नहीं, युग व्यतीत करना चाहता हूँ।

वर्तमान समाज में तो मांगलिक क्रिया-कलापों का रूप परिवर्तित हुआ है। विवाह, जन्मोत्सव आदि के अवसर पर प्रसन्नता और आह्लाद व्यक्त करने के ढंग नये हो गये हैं। आह्लाद और उमंग अर्थशास्त्र से बाधित हैं। हमारी बाढ़ बौनी लगती है। बातें तो हम बहुत बढ़-बढ़कर करते हैं, किन्तु करनी और कथनी का असामंजस्य केवल परिस्थिति जानने वाला ही समझ सकता है। ऐसे चित्रण वाजपेयी जी ने प्रस्तुत किये हैं जिनमें मानव की महदाकांक्षा मंगल प्रसंगों में व्यय की चिन्ता नहीं करना चाहती किन्तु उसकी सीमित परिधि उसे बाध्य कर देती है। उसकी आशाओं की मन्दाकिनी विवशता की मरुस्थली में दिग्भ्रमित हो जाती है। ऐसी स्थिति में मानव-मन की गहराइयों में उठने वाली भावना-तरंगों के सतरंगी अक्षर पढ़ना वाजपेयी जी के उपन्यासकार को बहुत आता है। कभी-कभी तो पाठक को धोखा हो जाता है कि कहीं उसी की रामकहानी न कही जा रही हो! यह मेल भी कम स्पृहणीय नहीं है! यही कला का वह रूप है जो मानव-मन को आकर्षित होने के लिए बाध्य कर देता है।

अपने युग-बोध के अन्तर्गत वाजपेयी जी धर्म की दुहाई नहीं देते, अगला जन्म सुधारने का नुस्खा नहीं बताते, पाठक पर अपनी बात लादने की बात नहीं करते और वे स्वयं क्या चाहते हैं यह भी नहीं बताते। किन्तु जब हम देखते हैं कि युग की चित्रावली को देखकर उनका पात्र नाक-भौं सिकोड़ने लगता है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि अमुक चित्र को रचनाकार नहीं पसन्द करता। यह बात मैं कह चुका हूँ कि युग के चित्रों को चाहे रचनाकार चाहे या न चाहे; किन्तु चित्रण करता चले। और फिर 'हितकारिणी भणिति' की बात भी 'आउट ऑव डेट' हो गयी। अब तो नरक के दर्शन से स्वर्ग समझने का युग आ गया है। कपट की पोथी पढ़कर विश्वास की वाटिका में विहार करने वाले जीवों की अपने समाज में कमी नहीं है। किसी ने आपको कोई वस्तु देने का वचन दिया है। सहज भाव से उसने बड़ी पक्की पोढ़ बात की है। कहा है कि अमुक समय आने की बात नहीं महाशय! जब आपकी इच्छा हो, आइए और वस्तु आपको तुरंत मिल जायगी। आप अपनी आवश्यकतानुसार पहुँचे। उन्होंने कहा—कैसे पधारे आप? उनका प्रश्न सुनकर आप चौंकें नहीं। यह सभ्यता है जिसके रथ पर बैठकर हम चल रहे हैं। राह चिरन्तन है, चाल कपट की है। यह बात कहने की नहीं, समझने की है। यदि आपकी समझ में न आये तो

निश्चय ही मनोविज्ञान सम्बंधी बीमारी है आपको। प्राचीनता का निर्मोक आपके नये शरीर पर चढ़ा है। इसे उतारना होगा, यदि आप अपने को समझना चाहते हैं।

इसी सन्दर्भ को लेकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था, कि यदि किसी ने आपको अपने यहाँ निमंत्रित किया है, तो यह आवश्यक नहीं कि आप उनके यहाँ समय से पहुँच ही जाएँ और यह भी आवश्यक नहीं कि आपके समय से पहुँचने पर वे अपने घर पर आपको मिलें ही। यह युग की माया है। उसका एक रूप है, वैसे है वह 'बहुरूपिया'। 'चलते-चलते' उपन्यास में वाजपेयी जी ने एक नेता जी को स्मरण किया है। उनका नाम है श्रीमान १००८ श्री······। अपने कर्त्तव्यों के लिए जो शपथ उन्होंने ली थी, अब वह धुँधली पड़ गई। युग-जल ने उसे धो दिया। मनोज नाम के विद्यार्थी को नेता जी ने वचन दिया था कि सर्विस का प्रबंध वे कर देंगे। मनोज ने प्रथम श्रेणी में द्वितीय स्थान प्राप्त किया। नेता जी के पास सजातीय की सिफारिश पहुँच गयी। मनोज का नम्बर कट गया। उसने आत्मघात कर लिया। यह झाँकी इसी युग की है। ये नेता-गण इसी युग के हैं। इन्होंने भारत की स्वतंत्र धरती पर भ्रष्टाचार के बीज बोये हैं। इनके विरोध में बात करिए, इनकी आलोचना करिए; बस आप देश-द्रोही हैं। भारतमाता के प्रति आपका अनुराग नहीं है; आप कारागार में रहने योग्य हैं। युग की इस स्थिति को देखकर वाजपेयी जी का एक पात्र कहता है :—

> "वह मनोज तो कहने भर को था। असल में था वह नपुंसक जाति का पुरुष। अन्यथा जातीय पक्षपात, घूसखोरी और स्वार्थों के बटवारों की लूटखसोट की इस बहती गंगा में तबियत भर कर हाथ धोने से बढ़-कर पुण्य इस युग में और दूसरा है नहीं।"
>
> **—चलते-चलते, पृष्ठ २६**

यह तो हुई प्रतिक्रिया की बात। अब तो युगीन सामाजिक व्यवस्था के कायाकल्प की आवश्यकता है। हाँ, यह काम उतना सरल नहीं है, जितना कि समझा जाता है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना:' के आधार पर सुधार के उपाय भी अपने-अपने ढंग से लोगों ने खोज निकाले हैं। जहाँ एक ओर तपस्या और साधना की दुहाई दी जाती है वहीं दूसरी ओर लोग गलत ढंग से काम करने में नहीं हिचकते। ऊपर से कहा जाय और कुछ, किया जाय और कुछ। यही मार्ग आज का सर्वग्राही मार्ग है। इसे ही प्राय: लोग अपनाते हैं।

युग के अन्य दृश्य के बोध में वाजपेयी जी के उपन्यासकार को ऐसे दूल्हे भी देखने को मिले हैं जो ससुराल के रुपये को भृत्यवर्ग के बच्चों की दवादारू के

लिए दे देते हैं। ऐसे अवसरों पर लोगों के मन में दो प्रकार के विचार उठते हैं :—

(१) दीन-हीन व्यक्तियों की सेवा तथा सहायता करनी चाहिए।

(२) समाज को उन्नत और सजग बनाने के लिए किसी भी गरीब की सहायता करना ठीक नहीं होता।

वर्तमान युग में वाजपेयी ने दोनों प्रकार के दृश्यों को देखा है। प्रतारणा और घृणा के स्वर में असहायों को कोसने वाले भी इसी समाज में पाये जाते हैं और इसके विपरीत किसी के घाव पर पट्टी बांधने वाले भी यहीं मिलते हैं। सहायता करने वाले भी इसी समाज में पाये जाते हैं और खाने के बाद पत्तल में छेद करने वाले भी इसी युग में मिल जाते हैं। सुलेमान घड़ीसाज़ ने न जाने कितने लोगों की घड़ियों के छोटे-मोटे काम मुफ्त किये हैं। वादा पक्का करता है। समय पर काम करना उसका धर्म है। सुलेमान के सामने लोगों को सुलेमान याद रहता है। बाद में बड़ी जल्दी लोग उसे भूल जाते हैं। यह भी मानव-मन की रागात्मक वृत्ति का एक नाटक है।

यह युग शान्ति का है, स्वतन्त्रता का है, अमन-चैन का है। गाँधी जी शान्ति का संदेश दे गये थे, उस संदेश को उनके पुत्रों ने सारे देश में ब्राडकास्ट किया था, नातियों ने सुना था; किन्तु जितना ध्यान देना चाहिए, उतना नहीं दे पाए थे। फलतः गाँव में फौजदारी हुई। कई घायल हुए। कुछ मारे गये। शान्ति की व्यवस्था करने वाले बाद में पहुँचे। बात भी सच है—जब तक अशान्ति नहीं होगी तब तक शान्ति का क्या महत्त्व होगा। फौजदारी की घटना सवेरे पाँच बजे घटी। पुलिस १० बजे पहुँची जबकि सूचना उसे ६॥ पर मिल गई थी। 'चलते-चलते' उपन्यास के एक पात्र के मुख से वर्तमान युग की एक चित्रावली देखिए, नहीं सुनिए :—

"रामलाल ने उत्तर दिया—'पुलिस को जो रिपोर्ट मिली वह दस वर्ष के एक बच्चे ने दी थी। ऐसी रिपोर्टों पर यदि पुलिस तुरंत कार्रवाई करने लगे तो वह काम ही न कर सके। और रोज़नामचा तो वहाँ तब भरा जाता है, जब केस की रूपरेखा तै हो जाती है। और इन घटनाओं की रूपरेखा तै करने में ये पुलिस वाले बहुधा सारा दिन लगा देते हैं क्योंकि उसपर उनकी योग्यता ही नहीं, आमदनी भी निर्भर रहती है। यह पद्धति अंग्रेज़ी शासनकाल से बराबर चली आयी है और अब तक बराबर चली जा रही है।"

[पृष्ठ ५८]

इस कथन के प्रसंग में उपन्यास के मुख्य पात्र का उत्तर वस्तुस्थिति को कितना स्पष्ट करता है, पाठक स्वयं विचार करें—"क्योंकि शासनाधिकार की कुर्सियों पर जो लोग आसीन हैं, वे पुरानी मशीनरी का हृदय नहीं बदल पाये। जो लोग पहले विलायती पोशाक में कचेहरी आते थे, वे सिर्फ चापलूसी के विचार से अगर खादी या देशी पोशाक में आने लगे, तो शासनाधिकारियों ने समझ लिया कि सच्चा स्वराज्य हमने स्थापित कर लिया।" [पृष्ठ ५९] ये विचार प्रत्येक प्रसंग में पूर्णरूपेण खरे नहीं उतर सकते। ऐसा हो सकता है कि कभी-कभी, कहीं-कहीं इसके विपरीत वातावरण भी मिल जाता हो। जनता को शिकायत करने की आदत भी हो सकती है। वस्तुतः बात यह है कि समाज रूपी मशीन के सभी पुर्ज़े ढीले हो गये हैं। स्वतंत्रता मिलने से पहले जिन्होंने थोड़ा भी देश का काम किया था वे अब महारथी बन गये हैं—देशभक्ति के। नाजायज़ ढंग से जनता से पैसा माँगते हैं। जेल जाने वालों में अपना नाम दर्ज करा लिया है। राजनीतिक पीड़ित जो हैं। यह सारी दृश्यावली इसी युग की है। वाजपेयी जी का उपन्यासकार उससे भलीभाँति परिचित है।

युग-बोध की पोथी का यह पन्ना पलट दीजिए। आगे आपको मिलेगा—"एक व्यक्ति जो मरघट पर सो रहा था, उसे उसके शत्रुओं ने उसी खाट से बाँध दिया, जिसपर वह सोया हुआ था। फिर उसपर मिट्टी का तेल डालकर आग लगा दी। जब वह व्यक्ति जलता हुआ रक्षा के लिए चिल्लाया, तब उसकी सहायता के लिए लोग दौड़ पड़े।···अस्पताल में उसकी मृत्यु हो गयी।' [चलते-चलते, पृष्ठ ७१] अब देखिए युगीन उत्तरदायित्व। आज की स्थिति यह है कि मानव अपनी मानवता से काफी दूर है। ऐसी घटनाओं का घटना पहले भी होता था; किन्तु उस समय सच्चा, सस्ता और पक्षपातरहित न्याय हमको नहीं मिल पाता था जिसकी आज हम आशा करते हैं। कारण था कि समाज के महामहिम लोग राजसत्ता के भक्त थे। अब परिस्थिति अन्य है। अब सत्ताधारी वे हैं, जिनके यश का गान हम लोगों ने मुक्त कंठ से गाया है। जो हमारे कहलाने का दावा करते हैं। वे बेचारे अब थक गये हैं। उत्तरदायित्व संभालना उनका काम नहीं। इसीलिए युग का रूप कुछ धुँधला-सा दिखायी देता है। इतना ही नहीं, वाजपेयी जी ने वह भी युग देखा है जिसमें बिक्री-कर और आय-कर के भार से छोटा व्यापारी व्यापार छोड़ बैठता है और बड़े व्यापारियों से कोई माँगता तक नहीं। भारत के बड़े व्यापारियों का तो यह दावा है कि वे भारत सरकार को खरीद सकते हैं। स्वार्थ साधन में तत्पर यह व्यापारी वर्ग जनता का हित-अहित नहीं देखता। उसका उद्देश्य है—लाभ, चाहे वह जैसे प्राप्त हो। गेहूँ और चावल में

कंकड़ मिलाकर, दूध में पानी मिलाकर, मलाई में सोख्ता गलाकर वे जनता का गला घोंटते हैं। और यदि अधिक सज्जनता प्रकटी तो मन्दिर बनवा दिया। तमाम भीड़ उनका नाम मन्दिर आने में लेने लगी। बस और क्या चाहिए—विज्ञापन बिना पैसे का हो रहा है। यही वह चाहते हैं। उनका व्यापार एक ओर और सारी जनता के जीवन-मरण का प्रश्न दूसरी ओर।

वाजपेयी जी के कुछ संकेत ऐसे हैं जिनके आधार पर इस विशृंखल समाज को समेटा जा सकता है। इसे जगाकर सचेत किया जा सकता है। आज के युग में आदर्शवाद, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि का पाठ पढ़ाने वाले अपने सम्बंध में कभी कुछ नहीं सोचते। एक दिन यह ढोंग समाप्त होगा। भावी होनहार वर्ग समाज को संभालेगा। हाँ, इसके अनुरूप समाज को संगठित करना होगा। ध्यान रहे कि वाजपेयी जी ने जिस युग का चित्रण किया है उसमें पाये जाने वाले समाज को अभी आगे संगठित होना है। आज तो उसकी दशा अत्यंत शोचनीय है। कारण एक नहीं अनेक हैं। इसी युग में विधवाओं के साथ अत्याचार किया जाता है। ये ज़हरीले दांतों वाले कुत्ते काट-काट लेते हैं। विधवाओं का मन घृणा और निराशा से भर गया है। उनका समाज परम असहाय और निकम्मा है। पुरुष वर्ग उन्हें अपने जाल में फँसाता रहता है।

अब आइए पैसे पर। यह युग पैसे का दास है। भौतिकता इतनी बढ़ी है कि मानव उसके दलदल में फँसता जा रहा है। सारा समाज जब एक ही प्रकार का है तब फिर उसे उबारे कौन ? यह युग केवल पैसे वालों का है। क्या कुत्तों की मौत मरने वालों का नाम इतिहास अपने पन्नों पर लिखेगा ? और यदि नहीं लिख पायेगा तो क्या उनका वर्तमान जीवन सुखकर बनाने के लिए पैसे वालों का पैसा निकलेगा ? वाजपेयी जी का चित्रण कितना सजीव है। पैसे में विष होता है। ऐसा विष जो किसी के उतारने से नहीं उतरता है। इस महाजनी सभ्यता का व्यवहार कुत्तों के व्यवहार के समान है, फिर भी हम बड़े चाव से जनता से संसद जाने के लिए वोट की भीख माँग लेते हैं। दबाव के चक्कर में कितने गलत सही काम बनाए जा रहे हैं। उपन्यासकार का एक पात्र सोच रहा है—

"हूँ। तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि मैं स्वयं भी अपने जीवन, कुटुम्ब और समाज के अभावों से अपने-आपको अलग रखकर चल नहीं सकता। तो इसका अर्थ यह हुआ कि यदि मेरा पुत्र मेरे देश की आत्मा—जनता—के साथ विश्वास-घात करेगा, तो भी मैं पत्नी के दबाव में आकर उसके साथ पुत्र का सम्बंध बनाये रखूँगा। उसके कार्य-कलाप के समर्थन में अपने विश्वास, अन्तःकरण और विचार के विरुद्ध असत्य भाषण करूँगा। फोन पर फोन खटकेंगे और सत्ताधारियों से

मिल-मिलाकर मैं इसके समाचार तक को सदा के लिए समाप्त कर दूँगा। फिर भी मैं खादी पहनकर, पूर्ववत् देश-भक्त बना रहूँगा। अवसर आने पर मैं छाती ठोंककर कहूँगा कि मैं भगवान की अनोखी सृष्टि पर पूरा विश्वास करता हूँ। मैं पक्का आस्तिक हूँ। मैं घोर सनातन धर्मावलम्बी हूँ। मैं महात्मा गाँधी के चरण-चिह्नों पर चलने वाला सत्याग्रही हूँ। मैं जनता का सच्चा सेवक हूँ। इसलिए जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिए आशा ही नहीं, पूरा विश्वास है कि आप मुझे संसद में अवश्य जाने का अवसर देंगे।" इस कथन के परिवेश में जिन्होंने वर्तमान युग में राजनीति का नाटक खेला है वे यह भलीभाँति जानते हैं कि संसद का सदस्य बनने के लिए विद्या, बुद्धि, बल और ईमान की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है 'सोर्स' की, सिफारिश की, झूठ बोलने की और पता नहीं किस-किसकी? कहा जाता है कि जनतांत्रिक प्रणाली मानव के लिए ब्रह्मा का उपहार है। क्या यह भी उसी का उपहार है कि एक व्यक्ति महीने में तीस रुपये वेतन पाये और दूसरा व्यक्ति एक समय में तीस रुपये का नाश्ता करे? क्या ब्रह्मा ने कह दिया है कि एक गन्दी कोठरी में चूहों की भांति आदमी रहे और बड़ी-बड़ी शानदार अट्टालिकाएँ मानव की मजबूरी का उपहास करें? यदि ऐसा है तो उसकी बुद्धि धन्य है। उसकी उदारता को उसकी प्रजा भूल नहीं पायेगी। ऐसे भी सदस्य संसद में पहुँच गये हैं जिन्हें बैठक में नींद आती है, जिन्हें अपने निर्वाचन-क्षेत्र की लम्बाई-चौड़ाई का पता नहीं है, जिन्होंने अपने मतदाताओं के दर्शन नहीं किये जिनके कि वे प्रतिनिधि हैं। यही ही है अपना समाज और अपना युग जिसपर हमको बड़ा गर्व है।

इस युग में जिसे लोग कायदे की कार्रवाई कहते हैं वह मानवता से कोसों दूर है। ब्याज खाने वाले इस युग में बढ़े हैं। दलालों ने अपना कारोबार बढ़ाया है। क्या हम-आप जानते नहीं हैं? अरे भाई! यह बात तो सरकार भी जानती है किन्तु यह इसलिए नहीं बोलती कि उसको 'हिस्सा' मिलता है। रुपये वाले लोग भले आदमियों की जान ख़तरे में डालकर पैसा माँगते हैं। पता नहीं चल पाता कि वारंट किसलिए आया है? उनके हाथ में न्याय है, इसलिए नहीं कि वे बुद्धिमान हैं, बल्कि इसलिए कि उनके पास पैसा है, धन है।

वाजपेयी जी का चित्रण हमें यह बताता है कि हमारे वर्तमान युग का रूप कैसा है? उसमें भव्य और मनोहर कितना है, घृणित और विद्रूप कितना है? प्रेम, सत्य, असत्य, घृणा, ईमानदारी आदि की परिभाषाएँ बदली हैं। अपनी-अपनी मान्यताओं का आधार लेकर व्याख्याएँ अलग-अलग बना ली गयी हैं। मनुष्य अपने मूल स्थान से पर्याप्त दूर जा चुका है। सभ्यता के सोपानों पर चढ़ते-

चढ़ते मानव अभी थका नहीं, आगे बढ़ता जा रहा है। वह रुकेगा भी नहीं। उसे आगे बढ़ते जाना है, भले ही फिसलकर गिर पड़े। आज के संसार में सत्यवादी को आलसी कहा जाता है। यह भी माना जाता है कि इस प्रकार का व्यक्ति आज के युग में उन्नति नहीं कर सकता। सत्य के नाम पर त्याग और बलिदान करने वाले चरित्र समाज में कम पाये जाते हैं। यदि कोई ऐसा करता है तो वह पिछड़ा हुआ है, रूढ़िवादी है।

'चलते-चलते' उपन्यास में युग की एक समस्या की ओर वाजपेयी जी ने संकेत किया है। सत्य का रूप क्या है? एक पात्र कहता है कि सत्य जिनको अधिक प्यारा है, वे पागल हैं। गणिकालय के ज़ीने से उतरने वाला व्यक्ति अपनी प्रियतमा के सम्बंध में क्या सोचता है? क्या वह इस सत्य का उद्घाटन अपनी प्रियतमा से कर सकता है? मान्यता तो यह है कि काम की तृष्णा की शान्ति के लिए व्यक्ति को एकनारीव्रती होना चाहिए। किन्तु जाने क्यों आज के युग में यह बात कम संभव है। निष्कर्ष यह निकला कि काम-भावना की तृप्ति यदि कोई पत्नी से करता है तो यह 'सत्य' हुआ। यदि इसके अतिरिक्त काम होता है तो 'असत्य' हुआ। इस विषय में हम आदर्श और यथार्थ के प्रसंग में अधिक सोचेंगे। यहाँ तो सत्यासत्य का निर्णय उपन्यासकार की लेखनी से देखिए :—

> "अब आप बतलाइए, एक तरुण व्यक्ति को क्या-क्या सत्य मानने को आपने विवश कर दिया है! जीवन किसको सत्य मानता है? उस भोली नारी को—या वेश्या को?
>
> ·········फिर एक भोली नारी जब कभी किसी रसिया की बातों में आकर उसे मन ही मन अपना हृदय दे देती है, तब उसका वह सत्य उसके लिए मधुर होता है या कटु—सरल होता है या कठिन—प्रिय होता है या अप्रिय? जाहिर है कि वह उसी के पीछे पागल हो जाती है। मैं पूछता हूँ, वह अपने भाई बंधुओं से असत्य बोलकर जिस वस्तु का प्रतिपादन करती है, वह क्या है? और मैं आपसे फिर यह भी पूछता हूँ कि उसको अपनी भूख का सत्य अधिक प्रिय होता है या वह असत्य, जिसका निर्वाह करने में वह थर-थर काँपती है! और जनाब, असत्य बोलने की शिक्षा उसे देता कौन है? आप कहेंगे समाज, आप कहेंगे इन्सानियत, आप कहेंगे नेचर। और तभी मैं बाअदब आपसे कह दूँगा—आदाबरज़। क्योंकि आपके इस कथन का अर्थ यह हुआ कि स्वतः मानवता, स्वतः समाज और स्वतः यह प्रकृति भी असत्य है, क्योंकि वह हमें असत्य की शिक्षा देती है।" [पृष्ठ १३९-१४०]

इन समस्त चिन्ताधाराओं के विवेचन का तात्पर्य यह नहीं कि आज के युग में सब कुछ विषमता से युक्त है। अंधकार-प्रकाश सापेक्ष है, सत्य-असत्य सापेक्ष है। जो मान्यताएँ युगाधारस्वरूप अभी तक चली आ रही हैं उनपर भारतीय संस्कृति का प्रभाव है। संस्कृति की बदौलत भारत का सामान्य जीवन पश्चिम के प्रभाव से परम नवीन होते हुए भी चिरन्तनता लिए हुए है जिसको वाजपेयी जी अपने पात्रों के माध्यम से व्यक्त करते चलते हैं। उन्होंने युग के सत्य के चित्रण के साथ-साथ युग के असत्य का भी चित्रण किया है। हाँ, उनकी आस्था और विश्वास सर्वथा भारतीयता के प्रति है, यद्यपि जीवन के अभिनव सोपानों पर चढ़ना भी उन्हें पसन्द है, चाहे उतरने में उनकी सांस की गति बढ़ ही जाय। किसी विशेष 'युगीन विचारधारा' को उन्होंने अपना उद्देश्य नहीं बनाया। युग-चिन्तन में उन्होंने मंगल का मार्ग खोजा है। इसका एक कारण यह भी है कि उठते-बैठते, सोते-जागते जिस समाज को उन्होंने देखा है वह लगभग साठ-पैंसठ वर्ष का है। इस समय में युग की निम्नलिखित विचारधाराओं का अनुशीलन वाजपेयी जी के उपन्यासों में मिलता है—१. राजनीतिक विचारधारा २. धार्मिक विचारधारा ३. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ४. आर्थिक युग ५. सामाजिक चिंतन ६. वैज्ञानिक दृष्टिकोण।

'चलते-चलते' कृति के माध्यम से राजनीतिक युग-बोध की बात हो चुकी। मैंने प्रारम्भ में यह कहा था कि स्वयंकथन शैली होने के नाते 'चलते-चलते' पुस्तक की विचारधाराएँ लेखक के अधिक समीप हैं; किन्तु अन्य कृतियों में भी उसने राजनीति से प्रभावित युग की चर्चा की है। इतना अवश्य है कि वाजपेयी जी अपने पाठक को इतना अवकाश नहीं देते कि वह उन्हें कांग्रेसी, साम्यवादी, समाजवादी या जनसंघी समझने की भूल करे। अवसर मिलने पर वे किसी भी राजनीतिक दल पर क्षमा नहीं करते। और इन दलों ने जनता का जितना शोषण अथवा पोषण किया है, उसका चित्रण भी वाजपेयीजी बड़ी कुशलता से प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि उनके उपन्यासों के शीर्षकों से व्यक्ति-बोध अधिक प्रकट होता है, युग-बोध कम प्रकट होता है; किन्तु युग से निरपेक्ष होकर लिखना सरल कार्य नहीं होता। 'भूदान' उनका ऐसा उपन्यास है जिससे सामाजिक युग-बोध का पता चलता है। विनोबा की 'मिशनरी स्पिरिट' से प्रभावित होकर इसकी रचना की गयी है।

राजनीति का जो निहार समाज पर छाया हुआ है, इस बात से सभी परिचित हैं। राजनीति ने मानव-कल्याण के साधन भी जुटाए हैं तथा हिंसा और उत्पात की भूमिकाओं का सर्जन भी किया है। 'विश्वास का बल' कृति का

सामाजिक युग-बोध ही सुपीरियर है। राजनीति अथवा अन्य बातें आनुषंगिक हैं। समाज, परिवार, उसके सदस्य, उनकी प्रेम-भावना, उनकी सीमाएँ और स्थितियाँ, सभी कुछ वर्तमान काल का है। इन्हें समझने के लिए न तो आजकल कुशल और पक्षपातहीन इतिहासकार की पुस्तक के पृष्ठ पलटने पड़ेंगे और न भविष्य जानने के लिए किसी ज्योतिषी के पास ही जाना पड़ेगा। यह बात 'अधिकार का प्रश्न', 'राजपथ', 'टूटते बंधन', 'सूनी राह', 'यथार्थ से आगे', 'गोमती के तट पर', 'दूखन लागे नैन', 'टूटा टी सेट', 'एक प्रश्न', 'रात और प्रभात', 'दरार और धुआँ', 'चन्दन और पानी' आदि उपन्यासों से जानी जा सकती है। इनमें विज्ञान-सम्बंधी दृष्टिकोण की व्याख्या नहीं, धर्म की शंकाओं का समाधान नहीं, आर्थिक घाटे-मुनाफे का लेखा-जोखा नहीं तथा राजनीति का पहाड़ा भी नहीं पाया जाता। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण में प्रसंगवंश अन्य बातों का समावेश हुआ है। प्रत्येक उपन्यास के पात्रों का युग-बोध पृथक्-पृथक् चित्रित किया गया है। वे राजनीति से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व पर युग का पूरा प्रभाव है।

वाजपेयी जी के एक पाठक महोदय का कहना है, कि 'बार-बार वही समाज, वही मध्यम वर्ग, वही रीति-नीति, वही हमारी कमजोरियाँ और अन्य मनोवैज्ञानिक प्रसंग कहते-कहते वाजपेयी जी थकते भी नहीं।' उन्हें यह शैली पसन्द नहीं है। उनका मन्तव्य है कि वाजपेयी जी राजनीति के जोड़ घटाने से उपन्यास का प्रारम्भ करके गुणा भाग पर समाप्त करें। कलाकार की रुचि का प्रश्न है। जो उसने लिखा है, उसके सम्बंध में बात कीजिए। अखिल ब्रह्माण्ड की करामात तो एक पुस्तक में नहीं दिखायी जा सकती। और फिर यह कहना, कि भूगोल आ गया, खगोल छूट गया, गोमती आ गयी, नर्मदा छूट गयी, गाँधी आ गये, नेहरू छूट गये, कानपुर आ गया, कलकत्ता छूट गया, सोमवार का वर्णन है, मंगलवार नहीं आ पाया, राजपथ वर्णित है, पगडंडी छूट गयी, श्वसुर जी आ गये हैं, सास जी रह गयीं, और जाने क्या-क्या आ गया है, साथ ही जाने क्या-क्या छूट गया है, कितनी विचित्र बात है! आपको तो उतना ही देखना है जितना लेखक ने लिखा है। उसमें कहीं त्रुटि रह गयी हो तो उसकी समालोचना प्रस्तुत कीजिए। अपने तमाम सारे उपन्यासों में वाजपेयी जी ने निरपेक्ष भाव से साइनबोर्ड पढ़ने वाले विद्यार्थी की भांति समाज को नहीं देखा है अपितु उसके अन्तर्बाह्य, अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। अपने युग का बोध उन्हें पूर्णरूपेण है। उनके उपन्यास इस बात को स्पष्ट कहते हैं।

युग-बोध के प्रसंग में एक ही उपन्यास के दो पात्रों को लीजिए—'राजपथ'

के दिलीप और बफाती। दोनों के चरित्रों का अनुशीलन करने पर पता चलता है कि दोनों की प्रकृति भिन्न है। एक है समाजसेवी और दूसरा जेब काटने वाला, समाज का विचित्र प्राणी। दोनों रूप इसी समाज के हैं जिसमें आप रहते हैं। पूरा उपन्यास पढ़ने पर यह पता चलता है कि लेखक हृदय परिवर्तन पर विश्वास करता है। इस प्रकार की घटनाएँ होती भी हैं। परिस्थितियाँ मनुष्य को पशु बना देती हैं। एक शराब पीने वाले व्यक्ति ने एक महात्मा के उपदेश से शराब पीना बन्द कर दिया। फलतः पीने के अपराध की क्षमा के लिए जो पैसा वह पुलिस को देता था, बन्द कर दिया। पुलिस नाराज हो गयी। उसे मारा-पीटा। उसने डर के मारे पुनः शराब पीना प्रारम्भ कर दिया। यह है अपना समाज और उसके स्वरूप की एक झाँकी। युग-बोध तो यह कहता है कि प्रेम बहुत कुछ परिस्थितियों पर आधारित है। अधिकार की बात आज सभी सोचने लगे हैं। कर्त्तव्य पुस्तकों में रह गया है। नयी पीढ़ी से विनम्रता और शालीनता लुप्त-सी हो गयी है। वाजपेयी जी के उपन्यासों में युग-बोध का जो रूप है वह अनुभूति पर आधारित होने के नाते यथार्थवादी है, यद्यपि समालोचकों ने उन्हें आदर्शवाद के जमा-खाते में डाल दिया है।

अब आइए वाजपेयी जी के उपन्यासों के परिवार में परिवार का स्वरूप देखें। समाज में परिवार की स्थिति देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि संयुक्त परिवार परम्परा अब विघटित हो चुकी है। अब तो अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग है। ये युग की विघटनकारी प्रवृत्तियाँ वाजपेयी जी के उपन्यासों में मिलती हैं। परिवार में पिता से लेकर पुत्र तक के अन्तर्गत जितने सदस्य होते हैं प्रायः सभी का वर्णन उपन्यासों में मिलता है। जहाँ एक ओर बिहारी बाबू [विश्वास का बल] जैसे पिता का वर्णन और चित्रण है वहीं दूसरी ओर गोपाल बाबू [सूनी राह] का चित्रण है। एक ही युग के दो रू हैं b। एक दामाद का चित्रण त्रिवेणी के रूप में [विश्वास का बल] किया है और दूसरे हैं सत्याचरण बाबू [सूनी राह] जिन्हें पाठक कभी भूल ही नहीं सकते। ये भी अपनी समताओं और विषमताओं को लिए हुए युग की धरती के जीव हैं। राजेन्द्र [चलते-चलते] और निखिल [सूनी राह] प्रेमी के रूप में इसी युग के पात्र हैं। अनेक 'राजेन्द्रों और 'निखिलों' से अपना युग भरा पड़ा है। पुत्र के रूप में युग का प्रतिनिधित्व करते हैं—देवेन्द्र [अधिकार का प्रश्न]। स्त्री पात्रों में नारी माता, बहिन, पुत्री, साली आदि अनेक पारिवारिक सम्बंधों में चित्रित की गयी है। उनमें ऐसी कोई विचित्रता नहीं पायी जाती जो किसी को वर्तमान युग में दिखायी न पड़े। इस युग में ऐसी पत्नियाँ हैं जो अपने नीच,

शराबी, दुराचारी पति का कभी साथ नहीं छोड़तीं और इस प्रकार की भी हैं कि जो सदाचारी, ईमानदार और नेक पति का साथ छोड़ देती हैं। यही बात पति के सम्बंध में भी सोची जा सकती है। भारतीय पारिवारिक जन-जीवन पर पश्चिम की संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव है। वाजपेयी जी भारतीयता के पक्ष में अवश्य रहते हैं किन्तु अन्य संस्कृति और सभ्यता का कल्याणकारी रूप भी उन्हें पसन्द है।

इसी युग में भारत की वह भी नारी है जिसे कम आयु में नारी बनने के लिए बाध्य किया गया था। पिता ने आँख मूँदकर जिसका हाथ किसी चाहे-अनचाहे व्यक्ति के हाथ में दे दिया था। जिसको समाज ने अपने भोग की सामग्री समझा था और इसी समाज को जिस नारी की छाया से घृणा होने लगी थी। वह भी नारी यहीं है जिसका सुहाग सदैव के लिए लुट गया है और पुरुष ने उसे अपनी इच्छानुसार विवश किया है। ऐसी भी नारी यहाँ है जिसकी भूख कभी नहीं मिटी और जो मधु संचयन में अपना सारा जीवन खपाती रही। यहीं सिनेमा की वह तारिका भी है जो सभी की सिस्टर है और किसी की भी नहीं है। वह हँसने और हँसाने आयी है। दुनिया के प्रपञ्चों से उसका क्या प्रयोजन। स्वच्छन्दता की इस दौड़ में आदर्श पत्नियाँ भी हैं। 'विश्वास का बल' की लक्ष्मी इसी कोटि में आती है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि प्रत्येक पात्र के लौह चरित्र को वाजपेयी जी ने लेखनी के पारस प्रस्तर से कंचन नहीं किया। और यह संभव भी नहीं है। कारण है मनोविज्ञान की अतिनवीन दौड़-धूप, जहाँ साधारण पाठक जा नहीं पाता और जिसकी गलियों से आना कठिन है। आज तो आधुनिक सभ्यता में पले पति-पत्नी सदैव सशंकित रहते हैं कि कहीं हम तलाक न दे दिए जायँ। यह भी युग का प्रभाव नहीं तो और क्या है?

युग-चेतना के अन्तर्गत अपनी सरकार ने अनेक प्रकार के काम किए हैं। विधवाओं और वेश्याओं के लिए आश्रम की स्थापना करके उसने अपनी लगन का परिचय दिया था। लोगों ने समझा था कि स्वतंत्र होने का फल हम लोगों को मिल गया। परिणाम यह हुआ कि वेश्यावृत्ति में शाखाएँ फूटीं और नगर के कोने-कोने में वेश्याओं का परिवार फैल गया। काम का रूप बदल गया। तन बेचने के स्थान पर वे मन बेचने लगीं। यह हमारे युग का अंधकार पक्ष है जिसका चित्रण वाजपेयी जी ने अपनी कई कृतियों में किया है। वे इधर भी जागरूक हैं।

नारी और पुरुष के सहयोग से सिनेमा बना। मनुष्य के मनोरंजन को नया रूप मिला; किन्तु उससे समाज़ का हित अहित दोनों हुआ है। क्या युग इन

बातों को झुठला सकता है ? वस्तुत: वहाँ की भी पंकिलता और निर्मलता को वाजपेयी जी ने बहुत समीप से देखा है। अब देखिए उस वर्ग को जो बड़ा योग्य है, पूज्य है, भाग्य विधाता है और सब कुछ है। हम उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते किन्तु जब यह पता लगता है कि अमुक अधिकारी अथवा विज्ञ सज्जन का दूसरा रूप कुछ और है तो हमारे ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, हम लज्जा से गड़ जाते हैं। अब तो युग की मांग यह है कि बुराई का पता लगते ही बड़े से बड़ा नेता, अधिकारी, समाजसेवी जनता की आवाज के सामने घुटने टेक देता है।

मानव-जीवन में शिक्षा का बड़ा महत्त्व है। भारतवर्ष में यह बात समग्र रूप से नहीं चरितार्थ होती है। इस देश में एक परम्परा प्राचीन काल से यथावत् चली आ रही है कि सिद्धान्तों का भार ढोते चलो, जीवन में चाहे उनका कोई महत्त्व और उपयोग हो अथवा न हो। वाजपेयी जी की मान्यता व्यर्थ सिद्धान्त ढोने की नहीं है। शिक्षा-सम्बंधी संस्थानों में आज क्या हो रहा है ? इस बात का पता सभी को है। जहाँ एक ओर हमारे सामने पुराने आदर्श हैं वहीं दूसरी ओर स्वार्थपरता और लोलुपता भी सीमा पार कर चुकी है। हम चिल्लाते रहते हैं— विद्यार्थी उद्दण्ड हैं, वे राजनीति में भाग लेने लगे हैं। उन्हें केवल सरस्वती की आराधना करनी चाहिए।' यह हम कभी नहीं सोचते कि हम पढ़ाते क्या हैं ? शिक्षण-संस्थाओं में जितने लोग काम कर रहे हैं उनकी अपनी क्षमता कितनी है ? हमने सिफारिशी और लचर लोगों को क्यों प्रश्रय दिया है ? इतना ही नहीं, यूनिवर्सिटी और कॉलेज स्तर पर लड़कियों का बँटवारा अनुपात के अनुसार किया जाता है। उनको प्रोत्साहित किया जाता है। कभी कभी तो छात्र यह सोचने लगता है, कि 'ईश्वर उसे अगले जन्म में लड़की बनाकर अमुक कॉलेज या यूनिवर्सिटी में पढ़ने की सुविधा प्रदान करे'। 'अमुक' इसलिए क्योंकि बहुत सारे कॉलेज और यूनिवर्सिटियाँ इस रोग से वंचित रह गयी हैं। यदि आपने अपने प्रोफेसर साहब को प्रसन्न कर लिया तो बस डिवीज़न बन गयी। यदि ऐसा नहीं कर पाये तो बंटाढार हो गया। प्रोफेसर को सारा हिन्दुस्तान जानता है। प्रति-वर्ष वे दूसरों का काम करते रहते हैं तो उनका काम कोई क्यों नहीं करेगा ? शिक्षण-संस्थानों की इन सेवाओं के चित्रण के लिए वाजपेयी जी ने अलग कोई उपन्यास नहीं लिखा, किन्तु कई कृतियों में किसी न किसी प्रसंग में युगीन शिक्षा के रूप को स्थान मिला है। उन्होंने ऐसे प्रोफेसर का भी चित्रण किया है जो अपने विद्यार्थी का हित चाहते हैं। गरीब विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबंध करते हैं। वे परम उदार हैं। वे ही शिक्षा मंदिर में रहने योग्य हैं। 'सूनी राह' के

वैशम्पायन जी कुछ इसी प्रकार के हैं। उनकी मान्यता सुनिए—"हम लोग तो साधारण पुरुष हैं। भगवान राम और कृष्ण तक के मानस को इन घटनाओं ने झकझोर डाला था। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जिस पर कभी विपत्ति न आये, फिर जीवन के सारे दुःख, क्लेश, अनुताप हैं किसके लिए? मनुष्य ही उन्हें सहता, वही उन्हें भोगता और फिर वही उनसे ऊपर उठकर आगे बढ़ता है। इसीलिए कहा है—'वीर भोग्या वसुन्धरा'।...सत्य की अर्चना के नाम पर किये गये उन सारे प्रयोगों से मैं सभ्यता की अभिवृद्धि का एक चिह्न मानता हूँ, जिन पर प्रतिकूल परिस्थितियों, रूढ़ियों और भावी संभावनाओं के कल्पित आतंकों ने परदा डाल-डालकर अत्यन्त निर्ममता के साथ मानवता का दम घोंटा है।" [पृष्ठ १६०, १६१] ऐसे आदर्श जो हमारे कल्याण के साधन बनें, हमें ग्राह्य हैं। और वे जो हमें पीछे ले जायँ, जहाँ पतन का गर्त है, हमें त्याज्य हैं। कारण यह है कि साहित्य लोक-कल्याण मानव की सबसे बड़ी उपलब्धि है और साहित्य का उद्देश्य भी यही है।

इस आर्थिक विषमता वाले युग में वाजपेयी जी को पता है कि 'तरकारी मेवे के भाव बिक रही है'। उन्हें गेहूँ और घी के पुराने भाव भूले नहीं। उपन्यास के पथ पर चलते हुए उन्हें पिछली बातों की स्मृति के चित्र मिलते रहते हैं। नयी दुनिया की नवीनता को बड़े आकर्षक ढंग से उन्होंने चित्रित किया है। युग के प्रभाव से समाज में जो परिवर्तन होते रहते हैं उनका चित्रण करने में वाजपेयी जी अपने समसामयिक साथियों से पीछे नहीं हैं। गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित होने के नाते वाजपेयी जी का दृष्टिकोण समझौतावादी है इसलिए जहाँ कहीं युग की चाल से उनका मेल नहीं मिलता वहाँ वे समझौते की बात सोचने लगते हैं। और विशेषता तो इस बात की है कि उनका युग-बोध निर्लिप्त है; उसमें कहीं भी पक्षपात और संलग्नता अथवा आसक्ति नहीं है। इसी कारण खेमे में रहने वाले लोग अनुमान नहीं लगा पाते कि वे वाजपेयी जी किस खेमे के हैं। युग को उन्होंने अपनी आँखों से देखा है। उनके देखे हुए युग सम्बंधी सभी चित्र स्पष्ट और आकर्षक हैं।

---

# ८ आदर्श और यथार्थ

"मैं विशुद्ध नैतिकता के अतिरिक्त कोई बात ही नहीं सोचता।···हम एक आदर्श को लेकर पैदा हुए हैं और उस आदर्श के पालन में मर भी जाना चाहते हैं।" ['राजपथ', पृष्ठ ९१, ९२] यह कथन है दिलीप का जो 'राजपथ' उपन्यास का नायक है। इस बात पर विचार करने पर पता चलता है कि उपन्यासकार ने कृति के नायक को आदर्शवादी विचारधारा वाला चित्रित किया है। आप कहेंगे—'दिलीप को ही क्यों लिया आपने ? क्या और कृतियों के पात्रों का यह दृष्टिकोण नहीं है ?' वास्तव में दिलीप की विशेषता यह है, कि उसका दृष्टिकोण समाजवादी है। व्यक्ति को देखने से पहले वह समाज को देखता है। समाज को देखना ही उसका आदर्श है। 'समाज की परिधि के बाहर व्यक्ति कुछ नहीं है'—यही उसकी मान्यता है। दृष्टि बड़ी उदार है। इसके पीछे मानव-कल्याण की भावना है जिसमें युग का मंगल निहित है; किन्तु एक बात यहाँ और स्मरण रखनी चाहिए कि आदर्शवादी विचारों वाला व्यक्ति यथार्थ से विमुख नहीं हो सकता। बिना यथार्थ के मनुष्य का जीवन दुर्लभ है। फलस्वरूप आदर्श और यथार्थ की मान्यताएँ परस्पर सम्बंधित हैं।

उपन्यास के क्षेत्र में वाजपेयी जी को आदर्शवादी माना जाता है। इस मान्यता के लिए हमें दो प्रश्नों पर विचार करना होगा :—

(१) क्या आदर्शवाद और यथार्थवाद एक-दूसरे से एकान्ततः भिन्न विचारधाराएँ हैं ?

(२) क्या वाजपेयी जी का वर्ण्य विषय समाज से परे अर्थात् केवल काल्पनिक है ?

आदर्श और यथार्थ की व्याख्या का यहाँ समय नहीं; किन्तु कुछ विचार प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा। यथार्थ के अन्तर्गत समाज के वास्तविक रूप की झांकी प्रस्तुत की जाती है जिसकी नग्न और वीभत्स चित्रावली देखकर हम आँखें मूँद लेते हैं जबकि आदर्श हमारे जीवन का आशा-दीप है जिसके शीतल प्रकाश में जीवन के संघर्षों से हारा-थका मानव उज्ज्वल भविष्य का संदेश पाता है। इन दोनों विचारधाराओं के आधार पर यथार्थ को नरक और आदर्श को

स्वर्ग की संज्ञा दे दी गयी। नरक वह स्थान है जहाँ मनुष्य को यातना मिले, उसका जीवन कष्ट में हो; और आदर्श का स्वर्ग वह है जहाँ मनुष्य को सुख मिले। जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार में एक के लिए अन्य की अपेक्षा है उसी प्रकार स्वर्ग-नरक की बात भी हो सकती है। किन्तु यह विचार लचर है। आदर्श स्वर्ग नहीं और यथार्थ नरक नहीं। यदि हम आदर्श को देशकाल बाधित मानें तो निष्कर्ष यह निकला, कि देशकाल और परिस्थितियों के अनुसार आदर्श परिवर्तित होता रहता है। समय के अनुसार आदर्शों में परिवर्तन होते रहते हैं। कभी-कभी तो ऐसी बात भी सामने आ जाती है, कि एक ही विचारधारा परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपना ही विरोध कर बैठती है। हिंसा करना पाप है; किन्तु देशभक्ति के लिए दूसरे देश वालों को गोली से मारना पाप नहीं है। जातिवाद का नारा बहुत घातक है, किन्तु राष्ट्रवाद एक अच्छी विचारधारा है।

विश्वबंधुत्व की भावना हमारा आदर्श है; किन्तु यथार्थ यह है कि एक देश दूसरे की उन्नति से दुखी है। अवसर पाकर परस्पर एक-एक इंच भूमि के लिए दो देश लड़ते हैं। जन, धन की हानि होती है। देश की आर्थिक दशा शोचनीय हो जाती है। हमारा आदर्श है, कि हम किसी को सताएँ नहीं; किन्तु प्रत्येक दिन चोरी और डकैती के समाचार हमारे सम्मुख आते रहते हैं जिसे हम यथार्थ रूप में देखते हैं। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। जो विचारक अथवा कलाकार आदर्शवाद की वाटिका का स्वप्न देखते हैं उन्हें यह जान लेना चाहिए कि आदर्श की वाटिका के लिए यथार्थ की धरती की आवश्यकता होती है। दोनों को एक-दूसरे की सहायता लेनी पड़ती है। यथार्थवाद केमरे की सहायता से बनाया हुआ चित्र है जबकि आदर्शवाद का चित्र यथार्थ और चित्रकार की कल्पना से बना हुआ है।

जहाँ तक वाजपेयी जी के वर्ण्य विषय का सम्बंध है, वह अनुभूतियों पर आधारित है। ये अनुभूतियाँ समाज से सम्बंधित है। उनके पात्रों की रचना में अनुभूति और कल्पना का योग है। चित्रण इतना वास्तविक भी नहीं है, कि पाठक आँखें बन्द कर ले, अथवा उपन्यास पढ़ना बन्द कर दे। आवश्यकता के अनुसार समाज की वास्तविक कहानी ली गयी है। जुगुप्सा, घृणा और वासना के चित्रों के प्रति लेखक प्रायः सतर्क रहा है। कहने का तात्पर्य यह है, कि सब कुछ घेरे के अन्दर है, बाहर का वर्णन या चित्रण नहीं मिलता।

यह घेरा क्या वस्तु है ? यथार्थवादी कहता है कि प्रेम का आदर्श कुछ भी नहीं होता। मानव सदैव 'लिबिडो' के तरंगाघातों से प्रभावित होता रहता है, इसलिए उसे अवकाश ही नहीं मिल पाता कि वह प्रेम में आदर्श खोजने बैठे।

प्रेम तो एक शाश्वत प्रक्रिया है। यह माता-पुत्र के बीच, भाई-बहिन के बीच तथा पिता-पुत्री के बीच संभव है। इस आधार पर पश्चिम में उपन्यासों की रचना पहले भी हुई थी, आज भी हो रही है। नाम कमाने के लिए हिन्दी में भी कुछ कृतियाँ इस प्रकार की आयी हैं; किन्तु वे अधिक दिन तक जीवित रहेंगी, कहा नहीं जा सकता। एक उपन्यासकार ने तो अपने उपन्यास के नायक को बहिन से सम्बंधित दिखाया है और इस प्रेम-सम्बंध में उसे पत्नी से सहायता प्राप्त होती है। मनोविज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है और उपन्यासकार उससे भी आगे है।

अब एक बात यहाँ और देख लेनी है कि विभिन्न देशों में पाये जाने वाले नियम, रीति, रिवाज आदि अलग-अलग होते हैं जो वहाँ की परम्परा, भौगोलिक वातावरण और संस्कृति के आधार पर बने होते हैं। इसलिए यह संभावना सदैव बनी रहती है, कि प्रत्येक देश के चित्रण में अन्तर होगा। जब कभी किसी लेखक के मन में दूसरे देश पर आधारित उपन्यास लिखने की बात उठती है तब वह वहाँ की यात्रा करता है, तमाम सारी बातों का अनुभव करता है, फिर लिखता है। इतने पर भी कुछ न कुछ त्रुटियों की संभावना बनी रहती है। फारेस्टर महोदय ने भारत से सम्बंधित एक उपन्यास लिखा है—'ए पैसेज टु इण्डिया'। उसमें भारतीय दर्शन पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं पाया जाता। यह बात अँग्रेज विद्वान कहते है।[1] पश्चिमी लेखकों और विचारकों की बड़ी भद्दी नकल भारत में की जाती है। इस नकलनवीसी में रत हिन्दी के तमाम साहित्यकार कुण्ठाग्रस्त हो कर पंगु और प्राणहीन साहित्य का सर्जन कर रहे हैं।

वाजपेयी जी ने जितने भी उपन्यास लिखे हैं उनमें भारतीयता का सर्वत्र ध्यान रखा है। इसलिए उनका पाठक झमेले में नहीं पड़ता। चरित्रों के स्वभाव के चित्रण में जहाँ कहीं विदेशीपन आया है वहाँ सिनेमा और आधुनिक सभ्यता का प्रभाव लगता है। आदर्श और यथार्थ की जहाँ तक बात है वहाँ तक वाजपेयी जी के उपन्यासकार ने सतर्कता से काम किया है। अतिवाद (Extremism) उन्हें मोहित नहीं कर सका। यदि इनके उपन्यासों में यथार्थवाद का नंगा नाच होता तो अतिवाद किसी न किसी रूप में आ जाता। यह अतिवाद यथार्थ आदर्श दोनों पक्षों को प्रभावित करता है। यथार्थ और आदर्श दोनों को अतिवाद 'फैन्टेसिज़्म' की ओर ले जाता है। ध्यान रहे कि यह सारी प्रक्रियाएँ साहित्य के उद्देश्य से काफी दूर होती जा रही हैं। चित्रण, शैली, भाषा, आदर्श और यथार्थ

---

१. The Art of E. M. Forster by H. J. Oliver, Page 57

आदि किसी भी प्रसंग में वाजपेयी जी अतिवादी नहीं हैं। इसलिए उनके उपन्यासों से साहित्य के उद्देश्य की पूर्ति होती है।

वाजपेयी जी के उपन्यासों में आदर्श और यथार्थ का समन्वय पाया जाता है। उन्हें पृष्ठभूमि देता है यथार्थ और वे अपने संस्कारों, रुचियों और कल्पनाओं के आधार पर उस यथार्थ की काट-छाँट करके अपनी कृत्ति की रचना करते हैं। अपने समाज में बहुत सारी बातें ऐसी पायी जाती हैं जिनका चित्रण शोभन नहीं माना जायगा। यद्यपि हिन्दी के ही कुछ लेखक इस मत के विरोध में हैं। उनका विचार है कि कोई बात अपने समाज में ऐसी नहीं है जिसका चित्रण न प्रस्तुत किया जा सके। वे सदैव काम भावना पर आधारित वीभत्स से वीभत्स चित्र देने को प्रस्तुत रहते हैं। एक वर्ग ऐसा भी है जो समाज में क्रान्ति लाने के लिए उसका नग्न रूप हमारे सामने लाने में हिचकता नहीं है। नग्न रूप उसकी दृष्टि में अधिक प्राकृतिक और मौलिक है। हमारे सामने जब हमारी कमजोरियाँ आयेंगी तब हम तिलमिलाएँगे और कहेंगे—'यही हमारा समाज है, जिसमें हम जीते हैं, साँस लेते हैं और दूसरों से कहते हैं, कि हमारा समाज उच्च स्तर का है। वस्तुतः यह समाज नरक है और हम नरक के कीड़े हैं।' इस प्रकार की अनुभूति हमें इस बात के लिए बाध्य करेगी कि हम वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए क्रान्ति का नारा लगायें। और इस प्रकार व्यवस्था की नवीन प्रणाली में मानव साँस ले सके। हिन्दी के एक साहित्यकार महोदय हिमालय पर्वत के पास पहुँच गये और उससे कहा कि 'तुम शंकर से कहो कि वे प्रलय का नाच नाचें जिससे पृथ्वी अँगड़ाई ले, वसुधा में परिवर्तन हो जाय, अंधकार और प्रमाद मिट जाय।' बात बहुत पुरानी हो गयी। परिवर्तन सामने न आया। वैसे अपना काम उन्होंने किया, हिमालय बेचारा उनका काम न करे तो वे क्या करें। जिन उपन्यासों का यथार्थ चित्रण क्रान्ति के उद्देश्य से नहीं किया गया है उनमें है वासना का खुला हुआ चित्रण। वाजपेयी जी समाज-व्यवस्था में सुधार चाहते हैं, क्रान्ति नहीं। यद्यपि उनके उपन्यासों से तो यही आभासित होता है कि वे क्रान्ति और फिर रक्तपात की क्रान्ति नहीं चाहते। इसलिए वे ऐसे यथार्थ का चित्रांकन नहीं करते जो अतिवाद की ओर ले जाता हो। मनुष्य को उसकी मनुष्यता दिखाते-दिखाते उनका समय बीत रहा है, उसकी पशुता दिखाने का उनके पास समय नहीं।

उपन्यास के यथार्थ पर विचार करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उपन्यास इतिहास से सर्वथा पृथक् रहता है। उपन्यास को आप जीवन-चरित्र भी नहीं कह सकते। उसमें तो कल्पना की ऐसी करामात होती है कि

चित्रण वास्तविक न होते हुए भी वास्तविक लगता है। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों से लेकर आज तक वाजपेयी जी आदर्श और यथार्थ के चित्रण में एक जैसे रहे हैं। जो मार्ग उन्होंने अवतरण में अपनाया था आज भी वह वैसे ही बना है। परिवर्तन के नाम पर केवल इतनी बात सामने आती है, कि अनुभूति की क्षमता के विकास के आधार पर कालान्तर में अनेक दृश्य सामने से आते गये हैं और उनका नवीन रूप कल्पना का संयोग पाकर उपन्यासों में आता रहा है। यही कारण है, कि वाजपेयी जी के यहाँ यथार्थ का चित्रण आदर्श की सीमाओं से युक्त है। उनके 'निमंत्रण' उपन्यास में सम्बन्धों का एक त्रिकोण है। शर्मा जी एक सामाचारपत्र के सम्पादक हैं। समाज की सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं। रेणु उनकी विवाहिता पत्नी है। स्वभाव से वह शीलवती, पति-परायणा और कर्तव्यों के प्रति निष्ठा रखने वाली नारी है। मालती शर्मा जी की प्रेयसी है जिसका परिचय उपन्यासकार के शब्दों में इस प्रकार है :—

> "यह जार्जेट की साड़ी, रंग हल्का आसमानी, जिसमें उड़ते हुए बादलों का आभास। यह किनारे पर सफेद चमकीला गोटा, जिससे पता चले कि कभी-कभी बिजली भी चमक पड़ती है। यह ब्लाउज़ जिसकी भूमि नारंगी, लेकिन छाप जिसमें अंगूर के बैंजनी गुच्छों और उनकी हरी-हरी पत्तियों की। ये गोरी मांसल अनावृत बाहें और स्कन्ध-मूल से ऊँचाई का पथ निर्देश करने वाले वक्ष-कन्दुक। ये नोकदार नयन जिनमें आकर्षण का मद और निमंत्रण। यह शृंखलित, नीचे की ओर पतली पड़ती हुई वेणी, गुम्फित काली रेशमी चोटी जो नितम्ब प्रान्त के और नीचे तक लहराती हुई। अँग्रेज़ी से एम० ए० किया है। वायोलिन बजाने में कई बार प्रतियोगिता के पुरस्कार और पारितोषिक ले चुकी हैं। आजकल नृत्य-कला में अभ्यास चल रहा है। हाथ में एक पतली-सी ज़ंजीर, जिसमें बंधा हुआ रेशम से मुलायम घने और बड़े-बड़े बालों वाला कुत्ता जीभ निकाले हाँफ रहा है, कभी-कभी आँखे मूँद-मूँदकर खोलता है।"

[पृष्ठ १३]

किसी भी पुरुष के लिए पत्नी आदर्श है और प्रेयसी यथार्थ है। यद्यपि रेणु में ऐसी कोई कमी नहीं दिखायी पड़ती जो शर्मा जी के मन में विकर्षण पैदा करे, किन्तु मालती के रूप-लावण्य पर शर्मा जी मुग्ध हैं और यहाँ तक मुग्ध हैं कि उसके साथ उठना, बैठना, बोलना, जलपान करना सभी कुछ उनको भाता है। मालती का व्यंग्य भी शर्मा जी का आह्लाद है। शर्मा जी अपनी गृहस्थी में उलझे रहते हैं।

बच्चे की लम्बी बीमारी ने उनको भी बीमार बना दिया है। बीच में वे मालती से थोड़ा दूर हटते हैं, किन्तु अन्त में विपिन के द्वारा मालती को बुलवाते हैं। क्यों? उनका हृदय नहीं मानता। मालती शर्मा जी के पास आने में झिझकती है। उसे बार-बार रेणु का ध्यान आ जाता है जो शर्मा जी की विवाहिता पत्नी है। रेणु सारी स्थिति का विवेचन करते हुए मालती से कहती है, कि "तुम्हारी स्मृति में वे अत्यन्त कृशकाय हो गये हैं। वे कभी किसीसे नहीं कहेंगे, कि तुम उनकी प्रेयसी हो। अब उनकी स्थिति यह है कि वे अपने को मिटाये जा रहे हैं। तुमसे तो मेरी यह प्रार्थना है कि तुम उनके साथ बातें करो, हँसो और घूमो।"

रेणु स्वयं मालती से शर्मा जी का आत्मकथ्य निवेदन करती है—

'वे कहते थे—प्रेयसी, प्रेयसी तो देवी होती है। वह अर्चना की वस्तु है। उसके साथ कहीं ब्याह हो सकता है? विवाह तो देवी को नारी बना डालता है। विवाह तो शरीर के उन स्थूल व्यापारों से सम्बद्ध है जिनसे गँध आती है।—जो बासी पड़ते-पड़ते अन्त में सड़ तक जाते हैं; किन्तु प्रेयसी तो प्राणेश्वरी होती है। विवाह तो भूख शान्ति का एक मार्ग है किन्तु तृष्णा जो अजर होती है उसकी शान्ति तो प्रेयसी ही करती है अपने आत्मदान से। वह बदला नहीं चाहती। उसे कोई कांक्षा नहीं होती। वह अर्पित ही करती चलती है। किन्तु पत्नी? वह तो बदला चाहती है। चाहती है कि वह कुछ पाये, उसको कुछ प्राप्त हो। कल्पना पर उसका निवास नहीं होता।"

[पृष्ठ ३०५]

यह दृष्य यथार्थ है। शर्मा जी ने ये बातें कही होंगी। एक बात यहाँ और सोची जा सकती है। रेणु पतिपरायणा पत्नी है। वह चाहती है कि उसका पति सुख में रहे। इसी कारण पति के मन की बात को समझकर उसके अनुसार आचरण करती है। इसीलिए वह मालती से भी नम्र निवेदन करती है, कि वह शर्मा जी से अलग न हो। यह रेणु के जीवन का आदर्श है, जिसे वाजपेयी जी की लेखनी ने चित्रित किया है। प्राय: समाज में ऐसा देखा जाता है कि रेणु की परिस्थिति में पड़ी हुई नारी या तो आत्महत्या कर लेती है या पिता-पक्ष का सहारा लेकर अपने पति के विरुद्ध अकाण्ड ताण्डव करती है। फलत: पति-पत्नी में मिलन और विश्वास के स्थान पर घृणा और द्वेष पनपते रहते हैं। 'निमंत्रण' उपन्यास में वाजपेयी जी का आदर्श यह नहीं रहा। यह तो समाज का यथार्थ है। मानव-मन की गहराइयों में डूबकर उसके कम्पन, उद्वेलन आदि का पता लगाना कलाकार का काम है। वाजपेयी जी ने एक दिशा देकर रेणु से वह सभी

कुछ कहलवा दिया है जिससे शर्मा जी की जीवन नौका भली प्रकार आगे बढ़ सके।

लेखक से यहाँ कोई यह शिकायत नहीं कर सकता कि वह आदर्श की सीमित भावभूमि में विहार करते-करते यथार्थ के परम वास्तविक और विस्तृत रूप को भूल गया है। उन्हें समाज के यथार्थ का पूरा पता है। केवल कल्पनालोक में विचरण करके उन्होंने हवामहल नहीं बनाये। शर्मा जी के चिन्तन में यथार्थ की झांकी देखी जा सकती है। वे मालती से कहते हैं :—

"तुम बुरा मान गयी हो, लेकिन मैंने कभी तुमको अपने से दूर नहीं समझा है। कितनी पीड़ा, कितना दर्द मैंने सहन किया है, तुम न जान सकोगी। किन्तु क्या सब बातें कहने से ही मानी जाती हैं? मुझे मालूम है कि तुम विवाहित जीवन को आदर्श नहीं मानती। तुम्हारे हृदय में विवाह प्रथा के प्रति घृणा भी कम नहीं है। किन्तु तब तुमने यह सार्वजनिक सेवा का व्रत क्यों ले रखा है? जीवन के प्रति तुम्हें प्रयोग ही करना था, तो अपने मार्ग पर नित नव प्रयोगों के लिए तुमको कोई कमी तो थी नहीं। यहीं तुमसे भूल हो गई है। जो भी हो तुमको तो अब आदर्श की ओर ही जाना पड़ेगा। समाज की प्रतिष्ठा प्राप्त किये बिना तुम उसका परिवर्तन कैसे कर सकोगी? क्या तुमको सहन होगा, कि तुम कहीं व्याख्यान दे रही हो, लोग श्रद्धापूर्वक तुम्हारा एक-एक शब्द सुन रहे हैं। ऐसी स्थिति में कोई तुम्हारा परिचय देता हुआ कहे, यह इतनी स्वेच्छाचारिणी हैं कि नित्य नये-नये प्रेमी खोजती रहती हैं। माना कि वे गलत कह रहे हों; पर तुम उनका मुँह कैसे बन्द करोगी?"

[पृष्ठ ३०७]

अब एक ऐसा प्रसंग देखिए जिसमें शर्मा जी यथार्थ की भूमिका बाँधकर आदर्श की बातें करते हैं :—

"विवाह के प्रति समाज में कहीं-कहीं जो विरोध देख पड़ता है, क्या यह विवाह, जीवन के दोषों की एक कटु प्रतिक्रिया नहीं? मैं यह नहीं कहता कि विवाह प्रेम की आदर्श कल्पना है। किन्तु समाज-निर्माण के लिए, अब तक, विवाह से उत्तम दूसरी कोई आदर्श कल्पना भी तो स्थिर नहीं हुई है। फिर अविवाहित जीवन भी तो विकृतियों से परे नहीं है। मैं पूछता हूँ—क्या मैं तुमको पा नहीं सकता? किन्तु फिर क्या रेणु का गला घोंट दूँ? और इसकी ही क्या गारंटी है कि मुझको पाकर

तुम पूर्ण ही हो जातीं। पूर्ण कभी आदमी हो सका है? जो लोग सोच-सोचकर आगे पैर रखते हैं वे साहसहीन हैं, कायर हैं; तो जो लोग आगे बिना सोचे-समझे दौड़ते हैं, क्या वे अबोध नहीं हैं?

[पृष्ठ ३०७, ३०८]

एक दृश्य और :—

"एक युवती चिथड़े लपेटे हुए है; फिर भी उसके गुप्तांग पूरे ढक नहीं पाते। वह कुत्तों को ढेला मारती है, किन्तु वे दूर हटते-हटते, फिर निकट आ-आकर उसको घेर लेते हैं। वे भौंक रहे हैं। किन्तु वह पागल युवती संगतिहीन भाषा में कह रही है—बेकार भौंकते हो। अरे पागलो, क्या मैं तुम्हारी जाति की हूँ। क्या मेरे कोई है नहीं?...मेरा स्वामी नुमायश देखने गया है! लौटने दो, मैं कैसी मरम्मत कराती हूँ।"

[पृष्ठ ३०९]

परिस्थिति के अनुसार यथार्थ की यह झाँकी प्रस्तुत करने में लेखक का एक उद्देश्य है। वह दिखाना चाहता है कि इस पागल स्त्री को भी अपने स्वामी की स्मृति बनी हुई है। और यह भी हो सकता हो कि उसका पागलपन भी पति-सम्बन्धी आकांक्षाओं की तृप्ति न होने पर आधारित हो। यह संकेत मालता के लिए है। इस प्रकार के संकेत वाजपेयी जी की सभी कृतियों में मिलते हैं। बिना संकेत के उनका उपन्यासकार आगे नहीं बढ़ता। हाँ, संकेत इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका पता लगाना सरल कार्य नहीं। कभी तो वे यथार्थ की भूमिका बताकर आदर्श का प्रतिस्थापन करते हैं और कभी आदर्श को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए यथार्थ के चित्र प्रस्तुत करते हैं। व्यर्थ आदर्शों की गठरी सिर पर लादकर चलना उन्हें पसन्द नहीं। जो आदर्श मानव की, समाज की बाढ़ को बौनी कर दें उनको वाजपेयी जी अपने उपन्यासों में प्रश्रय नहीं देते।

सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हुए वाजपेयी जी ने 'विश्वास का बल' में प्रेम के वास्तविक रूप का चित्रण किया है। त्रिवेणी बाबू वकील हैं, सम्पन्न हैं और सभ्य समाज में उनका उठना-बैठना है। उनकी स्त्री का नाम है लक्ष्मी। वह पतिपरायणा है; किन्तु पति महोदय का मन पत्नी में नहीं रमता। वे अपनी साली रमा के रूप-सौंदर्य पर लट्टू हैं। त्रिवेणी साड़ी का उपहार रमा को देकर एक भूमिका तैयार करता है। लक्ष्मी का स्वर्गवास हो जाता है। यदि उपन्यासकार चाहता तो रमा के साथ त्रिवेणी का विवाह करा देता, क्योंकि लक्ष्मी का स्वर्गवास हो चुका है। रमा की ओर से त्रिवेणी के प्रति आकर्षण तो अवश्य पाया जाता है, किन्तु उसी संकेत-प्रणाली के आधार पर इस बात का आभास

मिलता रहता है कि—"रमा, तुम भूल कर रही हो।"

रमा का विवाह त्रिवेणी के साथ नहीं होता है। केवल इतना ही नहीं, अवसर तो यहाँ तक दिया है कि अपने पति के यहाँ से लौट कर रमा आती है। पारिवारिक कारणों से वह पति से रुष्ट हो गयी है; किन्तु उपन्यासकार ने अपना आदर्श यही रखा कि उसे पुनः पति के पास लौटा दिया। रमा और त्रिवेणी का प्रेम यथार्थ है। यद्यपि त्रिवेणी के आकर्षण में प्रेम कम है, वासना अधिक है; किन्तु यह सब कुछ यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर है। यहाँ तक कि लक्ष्मी के प्रति त्रिवेणी की विरक्ति का भाव भी यथार्थ है। बहुत कुछ सम्भव है कि उपन्यासकार से पूछने पर वह इसे कल्पना कह दे; किन्तु यह कल्पना भी ऐसी है कि अनुभूति की चित्र पटी पर अंकित होने के कारण यथार्थ-सी लगती है। अपने समाज में आपको इस प्रकार की घटनाएँ एक-दो नहीं, अनेक मिलेंगी। और यथार्थ का रूप और भी स्पष्ट तब होता है जब त्रिवेणी के आकर्षण को रमा के पिता और माता ताड़ जाते हैं और दामाद होने के नाते कुछ कहने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

यथार्थ के और अधिक चित्रण देखने हों तो चलिए 'हिमानी' के पास। 'विश्वास का बल' के पाठक हिमानी से भली भांति परिचित हैं। त्रिवेणी जैसे पुरुषों को अपने चंगुल में फँसाना उसके बाएँ हाथ का खेल है। हिमानी का काम भी ऐसा है जिसे समाज मान्यता तो नहीं देता; किन्तु चाहता है। लोभी मधुप की भांति त्रिवेणी का मानसलोक किसी भी रमणी को देखकर उद्वेलित हो उठता है। हिमानी के मिलने पर वह रमा को भूल जाता है। यदि 'याद' आती भी है तो वह उस समय जानबूझ कर भुलाने का प्रयत्न करता है। हिमानी और त्रिवेणी के परस्पर संलाप में लेखक ने विशेष आकर्षण जुटाने का प्रयत्न किया है। उबले हुए अण्डे पर छुरी चलाते हुए जिस समय हिमानी ने त्रिवेणी से कहा था, कि "कुछ उखड़े-उखड़े-से नज़र आते हो। बात क्या है?" त्रिवेणी ने बहाना बनाया था और हिमानी की प्रशंसा में बोला था, कि "तुम्हारा गीत मुझे पसन्द आया था—नाविक जरा नैया बहाये चल।" और आप आगे कहते हैं—"उससे भी अधिक पसन्द आया तुम्हारा उस नृत्य की समाप्ति पर उस कमरे में प्रवेश करना।" यह सारा वार्तालाप संकेत करता है कि त्रिवेणी की कामुकता अपनी सीमा पार कर चुकी है। छोटे बच्चे को रेलगाड़ी के डिब्बे में अकेला छोड़कर वेश्या से बातें करने में उसे अतीव आनन्द मिल रहा है। पाठक पूछ सकता है—'कहाँ गया वाजपेयी जी के उपन्यासकार का आदर्श? वैसे तो आदर्श की दुहाई देते रहते हैं किन्तु यथार्थ के चित्रणों में आदर्श का पता ही नहीं लग पाता।'

त्रिवेणी और हिमानी के वार्तालाप के इसी प्रसंग में कुछ वाक्यों पर आप ध्यान दीजिए जो त्रिवेणी द्वारा कहे गये हैं :—

(१) "···बच्चे का रोना भी तुम जैसी औरतों के सन्तति निरोधी प्रयोगों से तो लाख बार अच्छा है।"

(२) "इस बार त्रिवेणी के मन में आया—'उसको जीवन के पास चला जाना चाहिए।' "

ये दोनों वाक्य उपन्यासकार के 'आदर्श' की रक्षा करते हैं। यहाँ भी उपन्यासकार की लेखनी सचेत है जिसके कारण वह इन व्यभिचारिणी प्रवृत्तियों के समय भी आदर्श की रक्षा करती चलती है।

जैसे ही त्रिवेणी रेलगाड़ी के डिब्बे में जाकर बैठा, वैसे ही वहाँ उसकी दृष्टि एक वयस्क लड़की पर जा पड़ी। उसी डिब्बे में हिमानी भी थी। पुनः बातें प्रारम्भ हुईं। त्रिवेणी कभी हिमानी से बातें करता और कभी अपने हृदय-पटल पर उस लड़की के रूप के अनेक चित्र बनाता दिखायी देता था। साथ ही वह ऐसी शब्दावली का प्रयोग करता था जिससे हिमानी प्रसन्न हो। गाड़ी से उतरने पर अप्रत्याशित ढंग से जीवन (त्रिवेणी का पुत्र जो रेलगाड़ी के दूसरे डिब्बे में बैठा था) ने हाथ जोड़ कर हिमानी को नमस्कार किया तब ऐसा लगता है कि यहाँ भी आदर्श के लिए एक संकेत है।

"और त्रिवेणी सोचता भी है—'अगर लक्ष्मी ठीक ढंग से रहती गृहस्थी के भार से पिस दबकर शिथिल, गलितप्राय न हो गयी होती, तो क्या उसकी रूप सम्पदा हिमानी से कुछ कम मनोहर होती?' "

अपनी पत्नी को न चाहकर अन्य स्त्रियों के चक्कर में पड़े रहना जीवन का, समाज का यथार्थ है; किन्तु बीच-बीच में लेखक द्वारा दिये गये संकेत आदर्श की प्रेरणा के रूप में आये हैं। यदि केवल यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत करके वही सब कुछ दिखाया जाय जो अपने परिवार और समाज में हो रहा है तो बहुत कुछ संभव है कि हम अपनी आँखें बन्द कर लें।

वाजपेयी जी अपनी शैली के आधार पर ही यथार्थ और आदर्श का चित्रांकन प्रस्तुत करते हैं। 'सूनी राह' का यथार्थ इतना मुखर है, कि बिना गहराई से विचार किये आदर्श की प्रकाश किरणें दिखायी नहीं देतीं। यह भी लेखनी का कौशल है जो पाठक को रमने के लिए बाध्य करता है। 'सूनी राह' की नायिका करुणा के पतिदेव सत्याचरण बाबू के व्यक्तित्व में जगत के सारे अवगुण समाहित हैं। करुणा कहने के लिए तो विवाहिता है; किन्तु उसने अपने पति की ओर से मुख मोड़ लिया है। अपने छोटे भाई के ट्यूटर निखिल से करुणा प्रेम करने लगती

है। कुछ सीमा तक करुणा के पिता तक इस बात को जानते हैं। अन्त में निखिल के साथ करुणा के जाने की योजना बनती है। सत्याचरण बाबू भी करुणा के पिता के यहाँ पधारे हैं। वे जानते हैं कि करुणा और निखिल का सम्बंध बन चुका है। ऐसी स्थिति में सत्याचरण बाबू के हृदय की स्थिति का यथार्थ चित्र देखिए :—

> "उनके मन में अब एक बात आती, एक जाती। एक स्वर उठकर मूक जड़ बन जाता, तो दूसरा झट उभर उठता। एक बार मन में आता, क्यों न वह करुणा के पास पहुँच कर उससे कह दे—वासन्तिक समीर की शुभ्र ज्योत्सना में अर्द्ध रात्रि के समय छलकती हुई यौवन की सुरा से सिक्त जिन होंठों से मैंने तुमको अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था, अब तुम उनको सदा के लिए भूल जाना करुणा!
>
> कह दो कि जिस क्षण मैंने तुम्हारी (अस्वीकृति होने पर भी) कंचुकी के बंद सहसा खोल डाले थे, तुम्हारे कम कोमल हाथों की मृणाल-सी सुकुमार अँगुलियों को पकड़कर तुम्हारी दोनों भुजाओं को अपने गले में डाल लिया था, हृदय से हृदय जोड़कर तुम्हें सदा के लिए आत्मसात कर लेना चाहा था, तुम उस क्षण को सदा के लिए भुला देना करुणा!
>
> कह दो कि पहले तुमने अपनी दृष्टि में मेरी आँखों को, फिर हृदय में मुझ सम्पूर्ण को ही भर लेना चाहा था। मेरे जीवन की सारी सुरा हँस-हँसकर, धीरे-धीरे मधुर आवेश में भर-भरकर समाप्त कर डालनी चाही थी। बारम्बार चुम्बन भरे, अपने सरस बिम्बाधरों से तुमने जो मेरी सर्वस्व प्रीति और प्रतीति ग्रहण कर ली थी, उसे अब फिर कभी याद न करना करुणा!" [पृष्ठ २०२, २०३]

सत्याचरण बाबू के हृदय में जो भावनाएँ उठ, गिर रही हैं, उनके पीछे करुणा की कहानी है। उनके जीवन का यथार्थ उन्हें परेशान कर रहा है। वे यथार्थ की आँच में झुलसे जा रहे हैं। जीवन और जगत के यथार्थ ने सत्याचरण बाबू से उनकी पत्नी लेनी चाही है। फिर वह यथार्थ मधुर लगेगा कि तिक्त, सभी जानते हैं।

करुणा के जाने की तैयारी हो गई। निखिल भी आ गया। अन्त में करुणा निखिल के साथ न जाकर अपने पति सत्याचरण बाबू की गाड़ी में बैठ गयी। यह घटना आदर्शवाद की है। यहाँ लेखक महोदय से एक प्रश्न किया जा सकता है, कि आप अपने पाठकों को धोखा क्यों देते हैं? हम आशा कुछ और लगाए हैं किन्तु घटना कुछ और ही घटित हो रही है। मैंने इस बात की ओर संकेत किया है कि यही वाजपेयी जी की शैली है। करुणा के जीवन में आने वाले मोड़ का संकेत

वे दे चुके हैं। बीच-बीच में वे पाठकों से कहते गये हैं, कि सतर्क रहिए, नहीं तो धोखा खा जायेंगे आप। अब 'सूनी राह' की निम्नलिखित पंक्तियों पर ध्यान दीजिए :—

(१) "मर्यादा की स्थिरता में ही सबसे बड़ा ऐश्वर्य संदीपन होता है।" (गोपाल बाबू का चिन्तन)

(२) "मेरी तो सदा यही धारणा रही है कि स्वामी की ओर से उमड़ा हुआ प्यार कभी व्यर्थ नहीं जाता।" (गोपाल बाबू)

(३) "फिर उसने कल्पना की :

'जब काल के चरण आगे बढ़ जाएँगे, हममें से कहीं कोई न रहेगा, तब भी एक स्मृति अमर इतिहास की भांति जाज्वल्यमान रहेगी।' "

"एक थी करुणा, स्वामी के साथ जिसका मतभेद इस सीमा तक बढ़ गया था कि मिलन की सारी संभावनाएँ नष्ट हो गयी हैं। उसी समय अकस्मात् एक तरुण उसे जीवन-पथ पर आ मिला। अक्सर तरुण का मन उसकी रूप-गरिमा पर डोल-डोल उठता। अगर वह चाहता तो करुणा उसकी बन सकती थी। परन्तु उसकी मान्यता इतनी सस्ती न थी। पथ की खोज में जल्दबाजी उसे स्वीकार न हुई। फिर घटनाओं ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि करुणा स्वामी के साथ चल दी।"

[पृष्ठ १६४]

इन उद्धरणों से यह पता चलता है कि लेखक ने अपने पाठकों के सामने घटना का मोड़ दिखाने में तिलस्म और ऐय्यारी के उपन्यासकारों की भांति कोई जादू नहीं दिखाया। करुणा के साथ निखिल का सम्बन्ध उसके जीवन की अप्रत्याशित घटना नहीं है। बीच-बीच में लेखक के संकेत बताते चलते हैं कि आदर्श के मार्ग का ही अनुसरण अन्त में सभी को करना होगा।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि वाजपेयी जी का उपन्यासकार आदर्श का नकाब ओढ़ कर जीवन और जगत के यथार्थ को झुठलाना चाहता है। वस्तुतः वह मानव जीवन को यथार्थ के धुएँ से निकाल कर आदर्श के उस वातावरण में लाना चाहता है जहाँ उसका पूर्णरूपेण विकास हो सके। यथार्थ की स्थिति तो यह है कि झूठ, चोरी, अन्याय, कपट, छल, दम्भ से युक्त अपना समाज त्राण की राह खोज रहा है; किन्तु अभी तक सुधार की आशा नहीं दिखायी देती। ज्ञान की समस्त विधाएँ मानव-कल्याण खोजने में संलग्न हैं। चारों ओर असत्य के पथ पर चलते हुए सत्य की खोज हो रही है। इसी अपने समाज में भीख माँगने वालों के खाते बैंक में खुले हैं और सद्गृहस्थों के पास कुसमय में काम

आने के लिए कानी कौड़ी भी नहीं है। धनिक वर्ग और धनी होता जा रहा है, गरीबों की गरीबी बढ़ती जा रही है। धर्म के ठेकेदारों ने देवता की मूर्ति से पैसा कमाना अभी नहीं बन्द किया है। सरकार की मशीन का पुर्जा-पुर्जा आदमी के खून का तेल माँग रहा है। पुरातनपन्थी लोगों ने रूढ़ियों की शिलाएँ मानव की जय-यात्रा के पथ पर लगा रखी हैं, यद्यपि लोग उसे लाँघकर आगे निकल गये हैं। इन समस्त रोगों का निदान एक मात्र इनका चित्रण और शल्य-क्रिया ही नहीं है। आदर्श का शीतल लेप यथार्थ के घावों पर लगाने के लिए होना चाहिए। वाजपेयी जी के उपन्यासों में पात्रों और घटनाओं के चित्रण में यथार्थ और आदर्श का यही समन्वय पाया जाता है।

प्रकृति के थपेड़ों से संत्रस्त मानव का रूप देखने के लिए वाजपेयी जी का 'राजपथ' पढ़ना चाहिए, जिसमें गोमती की बाढ़ का चित्रण है। इस चित्रण के साथ-साथ हास्पिटल में रोगियों की दशा का वर्णन पढ़ कर पाठक अभिभूत हो जाता है। और मेरा तो यह विश्वास है कि इन पंक्तियों को लिखते हुए लेखक की लेखनी भी रोयी होगी। अन्त में भुखमरी, बीमारी, व्यभिचार, घृणा, लोभ, लूट-खसोट का चित्रण करने के बाद अपनी वेदना को भूलने के लिए उसने आदर्श का सर्जन किया होगा, तब कहीं उसे आगे बढ़ने का सम्बल मिला होगा।

वाजपेयी जी ने 'यथार्थ से आगे' लिखते हुए बताया है कि जीवन में संघर्ष आवश्यक है। कारण यह है कि उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने के लिए उसे सामाजिक बनना होगा। इस क्रियाकलाप में मनुष्य को संघर्ष का सामना करना पड़ता है। जीवन में संघर्ष करना वाजपेयी जी के अनुसार यथार्थ है और आगे बढ़ते जाना आदर्श। एक बात यह स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हूँ कि वाजपेयी जी आदर्शवाद के हिमायती हैं; किन्तु उनका यह दृष्टिकोण यथार्थ की अनुभूति पर आधारित है। यथार्थ से आगे भी उन्हें आदर्श ही मिला है। जीवन-संग्राम की पराजय के यथार्थ से आगे बढ़ने के लिए हमें आदर्श की ओर प्रस्थान करना होगा। इस जय और पराजय के प्रसंग में आदर्श और यथार्थ के चित्रण यथेष्ट मात्रा में वाजपेयी जी के उपन्यासों में मिलते हैं। व्यक्तिगत यथार्थ और सामाजिक आदर्श का संघर्ष भी देखने को मिलता है। आदर्श के उच्च शिखर पर पहुँच कर अपने समाज के यथार्थ की चित्रावली उपन्यासकार को दिखायी पड़ रही है। 'चलते-चलते', 'चन्दन और पानी', 'अधिकार का प्रश्न', 'उनसे न कहना', 'टूटा टी सेट', 'दूखन लागे नैन' और 'टूटते बंधन' आदि कृतियों में लेखक के आदर्शवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ यथार्थवादी पृष्ठभूमि मिलती है। 'टूटते बंधन' की मुरली के जीवन का यथार्थ ही तो है जो हमें आदर्श का सहारा लेने

के लिए बाध्य करता है। ठीक यही स्थिति 'टूटा टी सेट' के नीलकमल की भी है। गाँव और नगर के अनेक चित्रों में यथार्थवाद की रेखाएँ चटक दिखाई पड़ती हैं; किन्तु उनमें आदर्श का रंग भरा हुआ है। सिनेमा, सरकारी दफ्तर, अस्पताल, वेश्यालय, देवालय, विश्वविद्यालय, स्कूल, कालेज, स्टूडियो, ट्रेन, स्टेशन, होटल, न्यायालय आदि स्थानों से सम्बंधित चित्रण सजीव हैं।

वाजपेयी जी के आदर्शवादी चरित्रों को यथार्थ की यातना सहनी पड़ी है। ऐसी स्थिति में लेखक ने अतीव नैसर्गिक चित्रण करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। उसके साहित्य में यथार्थ की बाढ़ को आदर्श की सीमा मिली है। यही कारण है कि मनुष्य की पाशव वृत्तियों के दमन के लिए वाजपेयी जी का साहित्य एक पथ देता है—राजपथ। उनकी लेखनी आदर्श की स्याही से यथार्थ के पत्र पर लिखती जा रही है—'मानव के समाज की कहानी', जो आकर्षण और संवेदना से युक्त है।

---

१

# जीवन-दर्शन

इस तथ्य की ओर संकेत किया जा चुका है, कि वाजपेयी जी ने अपने साहित्य में गाँधीवादी विचारधारा को व्याख्या दी है। चरित्र और घटनाओं के संयोजन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि क्रान्तिकारी विचारधारा को नहीं अपनाया गया है। पूरे साहित्य में एक-दो पात्र यदि इस प्रकार के चित्रित भी कर दिये जायँ, तो उनके आधार पर कोई मान्यता नहीं बनायी जा सकती। अपनी रुचि के चरित्रों के चयन के पीछे लेखक का व्यक्तित्व छिपा रहता है। स्वयं-कथन शैली के उपन्यासों से लेखक के व्यक्तित्व का पता लगाना सरल है; किन्तु चित्रण-शैली में यह नहीं पता चल पाता, कि लेखक की अपनी रुचि किस पात्र के साथ है? वाजपेयी जी ने कुछ ऐसे पात्रों के चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किये हैं, जो देश को सुप्तावस्था से जगा कर चेतनालोक में लाना चाहते हैं, जो अंधकार को मिटा कर प्रकाश के अवतरण से मानव-मंगल का प्रयत्न करते हैं, जो समाज को निष्कलुष और आडम्बरहीन देखना चाहते हैं, जो मानव-हृदय में सहानुभूति, दया, करुणा, ममता तथा मैत्री की भावना का उन्मेष देखना चाहते हैं।

नयी पीढ़ी के साहित्यकारों के ऊपर उनके समकालीन साहित्यकारों ने यह आरोप लगाया है कि उनके विचार घिसे-पिटे हैं, वे सदैव जर्जर और प्राचीन विचारों को गले लगाये रहते हैं। क्रान्ति में उनकी आस्था नहीं है, उनके विचार सनातन और चिरन्तन जीवन-दर्शन पर आधारित होने के कारण अब तत्त्वहीन और निरर्थक हैं। उनसे वर्तमान समाज को एक व्यवस्थित रूप देने के लिए कोई प्रेरणा नहीं मिल सकती, क्योंकि प्राचीन विचार-प्रणाली अब बहुत कुछ उद्देश्यहीन हो चुकी है। इन्हीं विचारों के आधार पर नयी पीढ़ी का साहित्य-कार समाज सुधारने का ठेका ले लेता है। अभी कोई सफलता हाथ लगती दिखायी नहीं देती। ग्रहपिण्डों की दूरी तो आपस में नाप डाली गयी है; किन्तु मानव और मानव के बीच का अन्तर घटने के स्थान पर बढ़ता जा रहा है। अनेक प्रकार के भगीरथ प्रयत्न विफल दिखायी पड़ते हैं। हमारी निराशा बढ़ती जा रही है; किन्तु ये तथाकथित समाज सुधार के ठेकेदार कहते हैं—'रुकिए

अभी हमारा प्रयोग चल रहा है, हम समस्या का निदान खोज रहे हैं।' जहाँ समस्या का निदान खोजने वाले स्वयं समस्या बन जायँ वहाँ आपको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

प्रयोग में न आने से जीवन का सिद्धान्त पुराना नहीं पड़ता। जीवन की बहुत सारी बातें समय के आधार पर पुरानी लगती हैं, किन्तु उनका अपना महत्त्व होता है। वाजपेयी जी समाज के प्रत्येक क्षेत्र में समृद्धि लाने के लिए जिस सिद्धान्त को प्रश्रय देते हैं, वह भी अब पुराना माना जाने लगा है; किन्तु उसके दर्शन ने विश्व को प्रभावित किया है। और भारत के साथ एक विशेषता यह भी तो काम करती रही है, कि कोई भी सिद्धान्त यहाँ जन्म लेकर विदेशों में पल्लवित और पुष्पित होता रहा है। यह भी हो सकता है कि इस नये युग की चकाचौंध में वाजपेयी जी पुराने पड़ गये हों—इस प्रकार के अनुमान लगाने की परम्परा और शैली अपने समाज में है; किन्तु वाजपेयी जी के उपन्यासों में जो कुछ है, सब इसी समाज का है और उसके संयोजन में उपन्यासकार की शैली सर्वत्र दिखायी पड़ती है, जिसका स्वरूप आकर्षक है और नवीन है।

किसी भी कलाकार के जीवन-दर्शन को जानने के लिए हमें दो मार्गों का अनुसरण करना होगा :—

(१) जीने की कला
(२) साहित्य का जीवन-दर्शन

वाजपेयी जी जो जीवन स्वयं जीते हैं उसका आधार है सादगी। यह सादगी वेशभूषा और खानपान में दिखायी पड़ती है। अपने जीवन के प्रति जो व्यक्ति सतर्क और सचेष्ट नहीं है, वाजपेयी जी उसे असफल मानते हैं। स्वयं जीवन की सादगी पसन्द करते हैं; किन्तु जहाँ तक जीवन के सौख्य का प्रश्न है, वे बड़ी उदारता से कह देते हैं, कि 'मनुष्य को आगे बढ़ाती हैं उसके जीवन की उपलब्धियाँ जिसके लिए उसे अवितथ प्रयत्न करना पड़ता है।' अपनी चन्द्रशाला में बैठकर सौरभ के महल बनाने से कुछ नहीं होता। माटी के मानव को परिश्रम करना चाहिए। बिना श्रम की कुण्डलिनी पर जागे इस जगत में कोई उपलब्धि सम्भव नहीं। यदि मनुष्य को निराकृत जीवन नहीं व्यतीत करना है तो उसे चाहिए कि अपने कर्मों से अपनी निरवद्यता का सच्चा स्वरूप संसार के सामने लाये।

अब तो युग ऐसा है कि यदि आपमें दृष्टिबंध की अच्छी करामात है तो आप माने हुए साहित्यकार हैं अन्यथा आपके साहित्य पर इस कर्मयोगी समाज की दृष्टि नहीं पड़ेगी। प्राकार के अन्दर खड़े होकर साहित्य की करामात वाजपेयी जी ने नहीं दिखायी। इसलिए उनके जीवन के आदर्श भी वैसे नहीं

बन पाये। उनका आदर्श जीवन को रंगभूमि न मानकर कर्मभूमि मानता है। किसी भी सभ्यता और संस्कृति से वाजपेयी जी के उपन्यासकार का दुराव नहीं; किन्तु भारतीय संस्कृति और सभ्यता उनके जीवन के प्रत्येक अंग में दिखायी पड़ती है। अपने जीवन में वे रुचि पर अधिक बल देते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि किसी की रुचि को वे मानें अथवा अपनी रुचि मानने के लिए किसी को बाध्य करें।

वाजपेयी जी के अनुसार उस व्यक्ति का जीवन सफल है, जो अपने किसी न किसी गुण के आधार पर समाज को प्रभावित करता है। ध्यान रहे कि इस बात के पीछे किसी प्रकार का विशेष मनोभाव नहीं काम करता। ऐसा वे एक सामान्य सामाजिक की दृष्टि से सोचते हैं। वाजपेयी जी के जीवन की एक उपलब्धि यह भी है, कि उन्होंने जीवन की अनेक कुरूपताओं, वीभत्स परिणतियों और असंगतियों में भी मानव की प्रकृति का जीवन्त राग, रस-गंध और सौन्दर्य-बोध खोजा है। उनकी यह खोज अभी चल रही है क्योंकि मानव-रूपों की विविधता की इति नहीं है। विचार-स्वातंत्र्य को वाजपेयी जी ने अपने जीवन का अंग माना है, क्योंकि जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता बाधित होती है वहाँ उत्तम कोटि के साहित्य का सर्जन संभव नहीं। स्वतंत्र वातावरण में ही उज्ज्वल भविष्य की मनोहर कल्पना संभव है। जीवन का जो विवेचन हमें वाजपेयी जी के साहित्य में मिलता है उसमें केवल यथातथ्य चित्रण ही नहीं पाया जाता; अपितु समाज की आलोचना भी मिलती है। वे कहते हैं, कि 'समाज की आलोचना में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता'। कोई बात खुलकर कहना, लिखना और सोचना वाजपेयी जी के जीवन का आदर्श है।

उपन्यासकार के जीवन का यह स्वातंत्र्य आस्था की आधार-भूमि पर टिका है। उसका विश्वास है कि जीवन में आस्थाओं का मूल्य शाश्वत है, भले ही उनमें परिवर्तन होता रहे। बिना आस्था के जीवन का रथ आगे नहीं बढ़ सकता। जिस दिन हम अपना विश्वास और आस्था खो बैठेंगे उस दिन निश्चेष्ट होकर निष्क्रियता के शिकार बन जायेंगे। अपने उपन्यासों में वाजपेयी जी ने आस्थावादी चरित्रों का चित्रण किया है। 'विश्वास का बल' उपन्यास का आधार ही कुछ इसी प्रकार का है। वे जीवन के आगे प्रश्नचिह्न लगाकर अपनी रामकहानी समाप्त नहीं करना चाहते; अपितु जीवन की समस्याओं के निदान में विश्वास रखते हैं। विश्वास और आस्था-सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रायः उनके सभी उपन्यासों में मिलता है। यहाँ तक कि उन्होंने टूटी हुई आस्थाओं को जोड़ने का प्रयास किया है। उनको बल देकर शक्तिशाली बनाने के उपक्रम संजोये हैं।

कभी-कभी आस्था और विश्वास की पूजा में मानव-जीवन को भयावह परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। वाजपेयी जी द्वारा चित्रित ऐसे भी पात्र हैं जो आस्था और विश्वास में अपने जीवन को संकट में डाल बैठे हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि बाद में उन्हें भी यह बात खटकी है, तभी वे 'अधिकार का प्रश्न' की बात करने लगे। यहाँ एक विपरीत स्थिति सामने आती हुई दृष्टि-गोचर होती है। इस चित्रण से उनकी विचारधारा पर कोई प्रभाव पड़ता दिखायी नहीं पड़ता, क्योंकि यह जगत नाना रूपात्मक है जिसके चित्र अनेक प्रकार के हैं। 'अधिकार का प्रश्न' उपन्यास की समस्या भी अपनी जगह उचित है; किन्तु वाजपेयी जी का उपन्यासकार उच्छृंखलता को प्रश्रय नहीं देता, क्योंकि जीवन में उसका मूल्य स्थायी और चिरन्तन नहीं होता। उससे मानव की स्वस्थ विचारधारा का पोषण भी तो नहीं हो पाता।

सत्य की एकरसता को वाजपेयी जी ने अपने जीवन में अनुभव करके कृतियों में उतारा है। उसकी दृढ़ता और स्थिरता पर उन्हें विश्वास है। इसीलिए प्रारम्भ से लेकर आज तक उनकी विचारधारा में इस सम्बन्ध में परिवर्तन नहीं हुआ है। सत्य की जो व्याख्या आज से कई वर्ष पहले उन्होंने की थी, आज भी वह उसी रूप में विद्यमान है। यह प्रभाव गाँधी-दर्शन का है। सत्य की दीप्ति कभी धूमिल नहीं पड़ती। जीवन में परिवर्तन आ सकते हैं, वह धुँधला हो सकता है; किन्तु सत्य सदैव सर्वथा निष्कलुष है। सत्य के मार्ग पर चलते हुए समता और ममता का महत्त्व जीवन में कम नहीं है। बड़ों के प्रति शील और विनय तो दिखाना ही चाहिए, साथ ही छोटों के प्रति सहानुभूति दिखाना भी जीवन का आदर्श-वादी दृष्टिकोण है। किसी के घाव पर मरहम लगा देना, भूखे व्यक्ति को अन्न दे देना, प्यासे को पानी पिला देना, दिग्भ्रान्त को पथ दिखा देना, सत्य का आधार लेकर ममता और समता की भावना को प्रश्रय देना है। इसलिए वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण उनकी गाँधीवादी विचारधारा को ही पुष्ट करता है।

गाँधी जी ने 'सत्य' शब्द का व्यापक अर्थ लिया है। वे विचार, वाणी और आचार में सत्य का होना सत्य मानते हैं। उनके अनुसार जगत का सारा ज्ञान सत्य में समाया हुआ है। सत्य की खोज में मनुष्य को कष्ट उठाना पड़ता है, तपश्चर्या करनी पड़ती है। इस बात को वाजपेयी जी मानते ही नहीं हैं अपितु इस मान्यता के आधार पर उन्होंने चरित्रों का सर्जन किया है जो अपने जीवन में कष्ट सहकर भी सत्य की रक्षा करते हैं। हाँ, गाँधी जी के सत्य में और वाजपेयी जी के सत्य में एक प्रमुख अन्तर यह पाया जाता है कि गाँधी जी का सत्य मानवीय होकर भक्ति का रूप धारण करता हुआ ईश्वरीय हो जाता है

जबकि वाजपेयी जी के यहाँ ऐसी कोई बात नहीं। 'सत्य जीवन को संजीवनी प्रदान करता है'—गाँधी जी की यह मान्यता वाजपेयी जी के जीवन में भी पायी जाती है। ऊपर जिस अन्तर की ओर निर्देश किया गया है, यह केवल गाँधी और वाजपेयी जी की विचारधारा का नहीं अपितु धार्मिक राजनीतिज्ञ और साहित्यकार का है।

यहाँ हम गाँधी जी के सत्य और अहिंसा के विशद विवेचन में न जाकर केवल यह कहना चाहते हैं कि वाजपेयी जी के जीवन-दर्शन पर गाँधी जी का प्रभाव युग का प्रभाव है। गाँधीवादी विचारधारा ने जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। भारतीय संस्कृति का प्रभाव वाजपेयी जी के व्यक्तित्व पर होने के नाते ये सारी बातें और पुष्ट होती गयीं और साहित्यकार की मान्यताओं का व्यापक स्वरूप समाज के सामने आया।

अब हमें इस विषय पर विचार करना है कि वाजपेयी जी सामाजिक उत्थान के सन्दर्भ में अपना क्या दृष्टिकोण रखते हैं? उन्होंने देखा है कि जनता का चरित्र, उसका मनोबल दिन पर दिन क्षीण होता जा रहा है। आज जिस मत का प्रतिपादन हो रहा है, कल उसी प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति के माध्यम से उसका खण्डन भी हो जाता है। वे साधन जो हमारी दृष्टि में गर्हित हैं, अवसर आने पर हम उनका ही उपयोग करते हैं। जिन बातों को हम निन्दित और कुत्सित समझते हैं, उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते। चोर से कह देते हैं—'चोरी करो।' गृहस्थ से कहते हैं—'जागते रहो।' दूसरों को सत्य बोलने का उपदेश देते हैं, स्वयं झूठ बोलने का व्यापार करते हैं। दूसरों को पौरुष के हिमालय पर चढ़ने के लिए ललकारते हैं, स्वयं कायरता के नाले में डूबते-उतराते हैं। यह सामाजिक विषमता देखकर वाजपेयी जी केवल हरिस्मरण करते हैं।

अपने जीवन में वाजपेयी जी को समाज के विशिष्ट पात्र प्रभावित करते हैं। व्यक्ति की यह विशिष्टता उनके मानसलोक में एक प्रकार का कुतूहल और सुख उत्पन्न करती है। बिना किसी पूर्व-संकेत के कोई मिलन उन्हें जो तृप्ति और आह्लाद देता है उसका चित्रण उनकी कृतियों में मिलता है। 'सपना बिक गया' के बिहारी का चिन्तन इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है :—

> "जिन संयोगों को हम किसी आधार या पृष्ठभूमि के बिना प्राप्त करते हैं वे हमारी वांछित किन्तु सुषुप्त प्रेरणाओं को भी अपने पुलक स्पर्शों की कोई ऐसी तरंग दे देते हैं जो एक प्रकार से अलौकिक और अकल्पित होती है। इन तरंगों में एक प्रकार का संगीत होता है, नन्हीं बूँदों की एक फुहार, लोम-लोम में सिहरन उत्पन्न करने वाली एक

तरलता, मन्द-मन्द पवन झकोरों की एक शीतलता तथा भूखी भावनाओं की सम्पूर्ति की एक ऐसी क्रीड़ा होती है. जो तृष्णानुकूल प्राणों की सारी विफलता का एकसाथ शमन और समाधान कर देती है।"

[पृष्ठ ६६, ६७]

यहाँ पुलक और आह्लाद के प्रसंग को लाकर मैं यह कहना चाहता हूँ कि वाजपेयी जी के जीवन पर हर्ष, पुलक, आनन्द और इसके साथ-साथ उद्विग्नता का भी प्रभाव पड़ता है। आनन्द के प्रसंगों में वे आह्लादित होते हैं किन्तु संकट की घड़ियों में वह प्रसन्नता खो जाती है और उनका अनुभव व्यग्र होकर समस्या का निदान खोजने लगता है। ऐसी घड़ियाँ उनके जीवन में प्राय: आती रहती हैं जिनके एक पृष्ठ पर आह्लाद और उमंग की मनोहर चित्रावलियाँ अंकित रहती हैं और दूसरे पृष्ठ पर किसी 'सुरियलिस्ट' द्वारा बनायी गयी रेखाओं का अक्रम जिसे वाजपेयी जी का अनुभव जल्दी नहीं पहचान पाता है।

'यह संसार बुराई का मेला है'—यह मान्यता वाजपेयी जी की नहीं; बल्कि उनके एक पात्र की है। वाजपेयी जी तो यदि इसे बुराइयों का मेला मानेंगे तो इस मेले में अच्छाइयों की दूकानें लगवा देंगे, भले ही संसार का ईमान इन दूकानों पर सस्ते मूल्यों पर बिके। अच्छाई और बुराई से मिश्रित इस संसार में दोनों का महत्त्व है। इसलिए निस्संकोच रूप से इनका चित्रण वाजपेयी जी ने किया है।

भारतीय धर्म-साधना के अन्तर्गत अपने को बुरा कहने, अथवा अपनी बुराई पहले खोजने की जो बात कही गयी है, उसकी अवतारणा वाजपेयी जी ने अपने आदर्श चरित्रों में की है; साथ ही उनके जीवन में भी यही आदर्श पाया जाता है। उनके साहित्यकार से उनका व्यक्ति पृथक् नहीं है। आप बड़ी सरलता से उनके साहित्यकार में व्यक्ति को खोज सकते हैं और व्यक्ति ,में साहित्यकार। यह विशेषता युग के विरोध में है। युगीन स्थिति तो यह है कि व्यक्तित्वान्यता (Split personality) का प्रभाव साहित्यिक जगत में छाया हुआ है। किसी भी साहित्यकार से उसका व्यक्ति बहुत दूर है। और इतना दूर है कि पहचानना कठिन हो जाता है। वाजपेयी जी के यहाँ इस प्रकार का कोई अन्तर नहीं पाया जाता है। यह विशेषता उन्हें विशेष महत्त्व प्रदान करती है। जहाँ कहीं समाज में उन्हें बुराई दिखायी पड़ती है, वे गाँधी जी के मार्ग का अनुसरण करते दिखायी देते हैं :—

"धीरे-धीरे यह विश्व बुराइयों का मेला बन गया है, मेला ! केवल इसलिए कि एक बुराई के बदले में आदमी दस बुराइयाँ करता है। यह

सोच-सोचकर वह खुशी मनाता है कि यह मेरी जीत है। वह यह कभी नहीं सोचता कि यह मेरी सबसे बड़ी हार है। विजेता वह है जो बुराई का बदला भलाई से देता है, "जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल"। बापू ने अपनी जान दे दी, पर सत्य का मार्ग नहीं छोड़ा। क्या वे नहीं जानते थे कि सत्य का पथ काँटों का पथ है ? वे जीवन-भर काँटों के पथ पर चलते रहे, जबकि सारी दुनिया राजपथ पर चला करती थी।"

—भूदान, पृष्ठ १०४

दुनिया की बुराई देखने से पहले अपनी बुराई देखने की शैली वाजपेयी जी के व्यक्तित्व को बापू और विनोबा से मिली है जिसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं।

मानवी प्रेम के सम्बंध में वाजपेयी जी बहुत आगे बढ़कर सोचते हैं। यद्यपि वे गार्हस्थ्य जीवन को आदर्श मानते हैं किन्तु पत्नी और प्रेयसी के पृथक्-पृथक् मूल्यांकन में भी उन्हें कम रस नहीं मिलता। वे यह भी मानते हैं कि प्रेम ईश्वरीय सौन्दर्य की भूख है। [अधिकार का प्रश्न, पृष्ठ १४७] उनके विचार से पत्नी का स्थान प्रेयसी नहीं ले सकती और न प्रेयसी का स्थान पत्नी, इस मान्यता के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को दो स्त्रियों का साथ चाहिए। कतिपय पाठक इस विचार पर झूम उठेंगे जैसे कभी शिलाओं के चन्द्रमुखी होने की कल्पना करके विन्ध्याचल के ऋषि झूम उठे थे। यहाँ एक प्रश्न सामान्य रूप से मन में उठता है, कि क्या इस मान्यता के आधार पर समाज में व्यभिचार नहीं फैलेगा ? यह समझना बहुत बड़ी भ्रान्ति होगी। पत्नी तो जीवन के रथ का एक पहिया है; किन्तु प्रेयसी देवी है इसलिए वह आराधना के योग्य है, उससे भोग की कामना करना ठीक नहीं क्योंकि वह वासना से परे है। इसीलिए वाजपेयी जी पत्नी और प्रेयसी को एक तुला पर नहीं तोलते। वैसे अपने समाज के एकनारी-व्रती लोग धन्य हैं, पूजा के पात्र हैं; किन्तु यहाँ भी शर्त ईमानदारी की होनी चाहिए। वाजपेयी जी के उपन्यासों का अध्ययन करके यह पता लगाना तो बड़ा कठिन है कि उपन्यासकार ने 'पत्नियों' का पक्ष अधिक लिया है या 'प्रेमिकाओं' का। अंत में निष्कर्ष यही निकलता है कि दोनों अपने-अपने स्थान पर महत्त्व-पूर्ण हैं।

जीवन-दर्शन के सम्बंध में विचार करते हुए इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि प्रेम के स्वरूप-चिन्तन के साथ-साथ नैतिकता का क्या महत्त्व है। चरित्र को आदर्श की सीमा पाने के लिए नैतिकता के सोपानों से होकर जाना पड़ेगा। जब तक हमारा चारित्रिक बल नहीं बढ़ेगा तब तक हम बौने बने रहेंगे,

भले ही हम औरों से कहते रहें, कि हमारा देश उन्नति का अम्बर छू रहा है। मानव को उसका नैतिक बल ऊपर उठाता है और इसी बल के आधार पर उत्तम चरित्र की नींव पड़ती है। वाजपेयी जी के उपन्यासों के आदर्श पात्रों में यह गुण पाया जाता है और अपने इसी गुण के कारण वे पात्र अपने व्यक्तित्व का प्रभाव पाठक के हृदय पर छोड़ जाते हैं। वस्तुतः वाजपेयी जी के जीवन-दर्शन में नैतिकता के पक्ष का सबल समर्थन किया गया है, जिसकी आवश्यकता आज के व्यक्ति और समाज दोनों को है। नैतिकता की कमी से एक ने दूसरे को धोखा दिया है; यहाँ तक पुरुष ने नारी को और किसी सीमा तक नारी ने पुरुष को।

अपने समाज में नारियों की दशा इस युग में हीन मानी जाती रही है। उनकी स्थिति के विवेचन का समय तो यहाँ नहीं; किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनका सामान्य जीवन बहुत ही गर्हित और एक प्रकार से अभिशप्त-सा था। सुधार प्रारम्भ है किन्तु नये युग के प्रकाश की किरणें अभी वहाँ नहीं पहुँच पायीं जहाँ सचमुच अँधेरा है, जहाँ अज्ञान मूर्तिमान है, जहाँ निरक्षरता अट्टहास करती है। यद्यपि वाजपेयी जी ने भारतीय समाज की उपर्युक्त परिस्थितियों में संघर्ष करती हुई नारियों के चित्रण बहुत कम किये हैं; किन्तु भारत की पराधीन नारियों के प्रति उनकी सहानुभूति है। [विश्वास का बल, पृष्ठ १८५] वे चाहते हैं कि नारियों को उनके विकास की पूर्ण स्वतंत्रता मिले। इस प्रसंग में उनकी अपनी निजी धारणा है। जहाँ तक स्वतंत्रता की बात है, नारियों को अपना प्रेमी अथवा पति स्वयं चुनने के पक्ष में भी वाजपेयी जी का उपन्यासकार है। शिक्षा और सभ्यता की दृष्टि से भारत के मध्यम वर्ग की नारी अधिक सजग है और उसी का चित्रण वाजपेयी जी के उपन्यासों में मुख्य रूप से मिलता है। अब तो उनसे यह आशा की जाती है कि वे 'धनिया' और 'सिलिया' (प्रेमचन्द जी के 'गोदान' के स्त्री पात्र) के वर्ग की नारियों का ताजा चित्रण प्रस्तुत करें जिससे आज का समाज जाने तो कि सन् १९३० के आसपास की अपढ़ और देहाती नारी में और उसी वर्ग की १९६६ ई० की नारी में क्या अन्तर पाया जाता है। क्या मध्यम वर्ग का नारी-समाज उन्हें बहुत पीछे छोड़ गया? क्या ही अच्छा होता यदि स्वतंत्र भारत की ग्रामीण नारी का चित्रण वाजपेयी जी की लेखनी के माध्यम से आता। वैसे नागरिकाओं का चित्रण करते-करते उन्हें गाँव भूल-सा गया है।

जीवन की ऊँची-नीची घाटियों में विचरण करता हुआ वाजपेयी जी का उपन्यासकार मानव प्रवृत्तियों का सफल अध्येता है। जीवन के अध्ययन में जिन्दादिली और 'ह्यूमर' का विशेष महत्त्व है। जहाँ कहीं लेखक को जगत

और जीवन ने कठिनाइयाँ दी हैं वहाँ लेखक ने उत्साहपूर्ण और प्रेरणादायक ढंग से काम लिया है। 'ह्यूमर' तो वाजपेयी जी के जीवन का प्रधान अंग है। रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत जो संयोजना उन्होंने 'ह्यूमर' के सन्दर्भ में की है उससे यह पता चलता है कि जीवन में 'ह्यूमर' की अवतारणा से एक प्रसादपूर्ण वातावरण की स्थिति सामने आती है। कभी-कभी तो बड़ी गम्भीर शैली में वाजपेयी जी अपनी बात कह जाते हैं। काफी देर बाद पता चलता है, कि कोई 'ह्यूमर' की बात कही गयी है। वाजपेयी जी के 'ह्यूमर' का क्षेत्र सीमित नहीं है। उसका आनंद जीवन के विविध प्रसंगों में लिया जा सकता है। आनंद की तल्लीनता में कभी-कभी वे खो जाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि अब उनके सामने कठिनाइयों की पगडंडी नहीं है, क्योंकि 'ह्यूमर' और आनंद के सहारे उन्होंने 'राजपथ' खोज लिया है।

जीवन के प्रति सतर्कता वाजपेयी जी की 'जीने की कला' का प्रधान अंग है। वे उस समय का भी ध्यान रखते हैं जब मानव को अपनी रक्षा का कोई साधन नहीं मिलता। उन्हें इस बात का विश्वास है कि जो काम हम कर रहे हैं, वह गोपनीय नहीं रखा जा सकता। कोई न कोई उसे अवश्य देखता है। इसलिए इस जगत में अकाण्ड ताण्डव करने के पहले अवश्य सोच लेना चाहिए कि हम कर क्या रहे हैं? ये विचार संसार में 'अज्ञात सत्ता' की स्थिति की मान्यता पर आधारित हैं जिसके प्रति वाजपेयी जी के उपन्यासकार का अटूट विश्वास है। अकरणीय कार्य करने वाले चरित्रों की रचना वाजपेयी जी ने अपनी कृतियों में की है। ऐसे चित्रणों में परिस्थितियों के आधार पर हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है। 'रात और प्रभात' के रामप्रसाद तथा 'राजपथ' के बफाती का नाम इस सम्बंध में लिया जा सकता है। हृदय-परिवर्तन के प्रति वाजपेयी जी का विश्वास है। वे मानते हैं कि कठिनाइयों की घटाओं के हटने पर, परिस्थितियों के परिवर्तन के बाद मानव-हृदय का भी परिवर्तन हो सकता है। डाकू सदाचारी बन सकता है और मानव की परिस्थितियाँ ही उसे सदाचारी से दुराचारी बना सकती हैं।

'विश्वास का बल' उपन्यास में एक अतिरंजित चित्र देखकर ज्ञान बाबू कहते हैं:—

> "जीवन की सारी कटुता पीकर कलाकार जीता है। हलाहल पीकर भी हँसता और गाता है। लाञ्छना, प्रवञ्चना और अवमानना सहन करता हुआ मुस्कराता है।"

[पृष्ठ १७३]

ये विचार वाजपेयी जी के जीवन-दर्शन के मेल में हैं। दुःख और दर्द की आँधियों को सहने की जो शक्ति वाजपेयी जी को मिली है उससे उनके पाठकों के लिए भी प्रेरणा मिलती है। नियोजन के सम्बंध में वे सदा सतर्क रहे हैं क्योंकि उनकी मान्यता है, कि 'नियोजन के सम्बंध में जो व्यक्ति सदा उदासीन बना रहता है, उसके मनोरथ स्वप्न राज्य के समान होते हैं।' [अधिकार का प्रश्न, पृष्ठ ५४] जगत के नाना ऐश्वर्यों के प्रति वाजपेयी जी आकर्षण की बात अवश्य करते हैं, किन्तु आत्म-शान्ति के वैभव को वे महान मानते हैं। वस्तुतः वैभव के राज्य में असंयम और उच्छृंखलता की गुंजाइश अधिक है। शान्ति का लोक परम आह्लादकारी है। एक में है जीवन की दौड़-धूप तथा दूसरे में अलौकिक उल्लास।

वाजपेयी जी गति के चरण को काल-सापेक्ष्य नहीं मानते। हाँ, गति को जीवन कहने में उन्हें कोई संकोच नहीं। जहाँ गति को विराम मिल जायगा वहाँ जीवन भी अपनी 'इति' पा जायगा। जीवन की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी की ओर संकेत करते हुए वाजपेयी जी कहते हैं :—

> "जीवन-साफल्य की सबसे बड़ी कसौटी बस यही है कि प्रतिस्पर्धी और शत्रु भी उसके लिए आँसू बहायें और उसकी महानता स्वीकार करें।"

**—निरन्तर, पृष्ठ २३६**

जिस दिन इस गतिशील जीवन की आँखें मृत्यु मूँद देती है उस दिन एक नयी बात हमारे सम्मुख आती है :—

> "मृत्यु केवल एक व्यक्ति की आँखें बन्द करती है, खुलती हैं उससे सारे समाज की आँखें।"

**—चलते-चलते, पृष्ठ ४७६**

तात्पर्य यह कि समाज की आँखें खोलने में मृत्यु की भी उपयोगिता है जिसकी ओर वाजपेयी जी की सूक्ष्म दृष्टि गयी है। यह किसी भी कलाकार के दृष्टिकोण की विशेषता होती है कि वह जगत की विविध दृश्यावलियों को अपने ढंग से देखता है—"जीवन का हर क्षण हमारा शिक्षक होता है, जो हमें बतलाता है कि सावधानी की कितनी आवश्यकता है। अन्तर केवल इतना है कि स्थूल जीवन का शिक्षक केवल यही बात मुँह खोलकर कहता है, काल मूक भाव से कहता रहता है।" [रात और प्रभात, पृष्ठ ६६]

## १० | वाजपेयी जी—तब और अब

"आवश्यकताएँ अपना रूप बदलती हैं, कामनाएँ रंग बदलती हैं और कार्य-शैलियाँ ढंग बदलती हैं।" ये पंक्तियाँ वाजपेयी जी के 'राजपथ' की 'अन्तर्नाद' हैं। इन्हीं की भूमिका में हमें यह देखना है, कि वाजपेयी जी की साहित्यिक यात्रा की क्या विशेषता है ? जहाँ से वे चले थे और जहाँ तक पहुँचे हैं, उस बीच में उन्होंने कौन-कौनसी शैलियाँ अपनायी हैं, कहाँ-कहाँ उनकी कामनाओं ने रंग बदला है और कहाँ आवश्यकताओं ने अपना रूप परिवर्तन किया है ? जीवन के प्रसंग में यह बात कही जा चुकी है, कि वाजपेयी जी को अपने लेखक जीवनी के प्रारम्भिक दिनों में परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ा है। संघर्ष के पथ पर बढ़ते हुए साहित्य की कक्षा में उन्होंने अपना एक निश्चित स्थान बना लिया है।

सन् १६२६ ई० से आज तक का समय कई वर्षों का है। इतने बड़े अन्तराल में दिशाएँ बदल जाती हैं, विचारों में भिन्नता आ जाती है, कार्य-शैलियों में परिवर्तन हो जाता है तथा किसी भी व्यक्ति के सोचने का ढंग अन्य हो जाता है। वाजपेयी जी के रचनाकाल में अपने देश में एक बहुत बड़ा राजनैतिक परिवर्तन हुआ है। १५ अगस्त सन् १६४७ ई० को स्वतन्त्रता मिलने के बाद अपने देश की साहित्यिक गतिविधि में भी परिवर्तन हुए हैं। इस परिवर्तन का प्रभाव वाजपेयी जी की रचनाओं पर भी है। 'मैटर' और 'मैनर' दोनों दृष्टियों से इस पर विचार किया जा सकता है। पहले वाजपेयी जी की कृतियों के शीर्षक होते थे—मीठी चुटकी, पतिता की साधना, त्यागमयी, अनाथ पत्नी आदि। इधर के शीर्षकों से [धरती की सांस, यथार्थ से आगे, विश्वास का बल, दूखन लागे नैन, राजपथ, सपना बिक गया, रात और प्रभात, भूदान, गोमती के तट पर, अधिकार का प्रश्न आदि] तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्याओं में अन्तर आ गया है, परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। दिशा परिवर्तन के पक्ष और विपक्ष में कहने के लिए तो बहुत कुछ कहा जा सकता है; किन्तु सामाजिक तथ्यों पर आधारित रचना करने वाला साहित्यकार सामाजिक परिवर्तनों पर ध्यान अवश्य देता है। राजनीति से सर्वथा असंपृक्त होकर वाजपेयी जी ने समाज का जो चित्रण प्रस्तुत किया है उसमें राजनीति किसी न किसी रूप में

दिखायी पड़ती है। मुख्य रूप से 'निमंत्रण' और 'राजपथ' में यह बात देखी जा सकती है। वाजपेयी जी का 'पीपासा' उपन्यास यद्यपि मानव सुलभ प्रेम सम्बंधों पर आधारित है, किन्तु वहाँ भी समाज का वह रूप चित्रित किया गया है, जो राजनीति से प्रभावित है। उसकी प्रेम कथा में रचनाकार को देश की बेकारी याद है। सन् १९३७ के आसपास लेखक को पता है कि बाह्य चकाचौंध हमारी वास्तविक उन्नति नहीं। इससे तो हमारी कृत्रिमता और मिथ्या अभिमान का पता चलता है। देश की तमाम नारियों को वस्त्र नहीं मिल रहा है; दूसरी ओर मिलों में प्रभूत मात्रा में वस्त्र भरा पड़ा है। अमीरों की कोठियाँ विलास और वासना के अड्डे हैं, गरीबों की झोपड़ियों में दरिद्रनारायण निवास करते हैं। किसानों की दीन दशा की ओर भी 'पिपासा' में संकेत किया गया है। पूँजी-वाद के आधार पर टिकी हुई समाज की भित्ति बाहर से देखने में भले ही बड़ी सुन्दर लगती हो किन्तु उसकी नींव में विवश और असहाय नर-नारियों के रक्त का गारा लगा है। मजूर और किसान की समस्याएँ अब बदल चुकी हैं। जमींदारी के अभिशाप को अंत मिल गया है। ऐसी स्थिति में वाजपेयी जी के उपन्यासकार का स्वर भी बदला है। इधर की कृतियों का चित्रण युग से पूर्ण-रूपेण प्रभावित है।

सामाजिक समस्याओं में विधवा विवाह, बहुपत्नी विवाह, बाल विवाह तथा प्रेम-निर्वाह की अनेकानेक समस्याओं को लेकर अपने उत्थान काल में वाजपेयी जी ने रचनाएँ की हैं। इधर की रचनाओं में समाज में फैला हुआ नेतागीरी का रोग, लालफीताशाही, विभिन्न राजनैतिक दलों का स्वार्थ चित्रित किया गया है किन्तु ये समस्त चित्रण मुख्य नहीं है। मुख्य चित्रण तो समाज के एक वर्ग विशेष का है। अपनी प्रारम्भिक कृतियों में वाजपेयी जी ने कथानक पर विशेष बल दिया; किन्तु इधर वे चरित्र को प्रधानता देने लगे हैं। वैसे तो चरित्र को प्रधानता देने वाली कृतियाँ अनेक हैं किन्तु 'चलते-चलते' की कला कुछ और ही है। इस उपन्यास में तो वाजपेयी जी को आप बदला हुआ पायेंगे। कहाँ 'लालिमा' और 'मीठी चुटकी' का लेखक और कहाँ 'चलते-चलते' का रचनाकार। दोनों में पर्याप्त अन्तर है। एक ओर वस्तु का अन्तर है और दूसरी ओर शैली का।

वाजपेयी जी के 'पिपासा' उपन्यास में प्राय: वे सारे अंकुर मिलते हैं, जिनका विकास आगे चलकर हुआ है। वस्तु-चयन और शैली दोनों के सम्बंध में यह बात कही जा सकती है। शैली के आधार पर 'पिपासा' का पाठक इधर की कृतियों को पहचान लेगा यद्यपि रचना-शिल्प में कुछ भिन्नता अवश्य आयी है, जिसकी

ओर अभी हम चलेंगे। पात्र और कथानक के परस्पर सम्बंध के आधार पर बिना कथानक के पात्र नहीं हो सकते और न बिना पात्र के कथानक। भावना और कर्त्तव्य का जो अन्तर्द्वन्द्व वाजपेयी जी ने 'प्रेमपथ' में दिखाया है, उसमें कथानक का पक्ष सबल है। विदेशी उपन्यासकारों का एक दल भी इस बात का समर्थन करता है। यह विधा लेकर वाजपेयी जी आगे न बढ़ सके। अपनी आठवीं कृति [पिपासा] तक आते-आते उनकी विचारधारा अपनी एक निश्चित दिशा बना लेती है। किसी चरित्र के हृदयप्रदेश में प्रवेश करके उसके मनोभावों की बहुरूपी चित्रावलियों को देखना सरल कार्य नहीं। आत्मगोपन का स्पष्ट प्रकटीकरण 'पिपासा' में हुआ है। उसके प्रति अपने मन की बात कहते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं :—

> "पुरातन आदर्शों के आतंक और आज की आवश्यकताओं तथा समस्याओं के संघर्ष से वह (व्यक्ति) बच ही कैसे सकता है। ऐसी परिस्थिति में आत्मगोपन की नीति न तो व्यक्ति के लिए कल्याणकर है और न समाज के लिए।"

[पृष्ठ ३]

आगे चलकर वाजपेयी जी ने एक दूसरे मार्ग का अनुसरण किया। देश की स्थिति ने उनके ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट किया। व्यक्ति की अपराध-वृत्ति, उत्कोच परम्परा तथा अन्य दोषों के चित्रण के लिए 'निमंत्रण' लिखा गया। इन बातों के साथ पति, पत्नी और प्रेमिका के परस्पर सम्बंधों का अन्तर्द्वन्द्व भी चित्रित है जो मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए है। आदर्श के मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अपनी स्थिति से ऊबा हुआ चित्रित किया गया है। प्रतीत होता है, समाज की कुरीतियों ने आदर्श के वातावरण को धुँधला कर दिया है। इसी लिए वहाँ व्यक्ति को घुटन की प्रतीति हो रही है—"जरा अदृष्ट के इस खेल को तो देखिए, कि त्याग, सेवा, सत्य और सज्जनता का पुजारी होकर भी मैं इन लोगों के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका। रात-दिन आदर्श के पालन में ही पिसते, घिसते और जलते रहने पर भी परिणाम तो यही है न, कि इस तरह के व्यक्ति हमें सहायक मिलते हैं।" ['निमंत्रण', पृष्ठ १२६] इसे आप आदर्शवादी की पराजय नहीं कह सकते। आगे चलकर उपन्यास का नायक सर्वमंगल की भावना से प्रेरित होकर अन्त तक जन-हित का ध्यान रखता है।

साहित्य और राजनीति का जो वार्तालाप वाजपेयी जी ने 'चलते-चलते' उपन्यास में चित्रित किया है उससे यह स्पष्ट है कि नयी पीढ़ी की उन्मुक्त उड़ान की ओर उनका उपन्यासकार जिज्ञासु भाव से देख रहा है। साहित्य और

राजनीति का परिसंवाद लेखक के युग-बोध की ओर भी संकेत करता है। उसने अपने हृदय के उद्‌गार आकाश भाषित के रूप में निस्सीम गगन में नहीं प्रकट किये हैं; अपितु समाज को समाज की कहानी बतायी गयी है। इस कहानी का रूप इतना बड़ा हो गया है, कि कई उपन्यासों तक यह चलती है। 'पतवार' में इसका अन्य रूप है। वहाँ तो समाज की विकलता को लेखक के आदर्श का सहारा मिल जाता है। अपने पथ पर 'चलते-चलते' 'धरती की सांस' गिनने के पश्चात् विनोबा के आदर्श की ओर वाजपेयी जी का उपन्यासकार उन्मुख होता है। यह सब कुछ समय की स्वाभाविक गति के आधार पर होता है। इसके बाद तो जीवन और समाज के अनेक प्रसंगों का चित्रण हुआ है। इन चित्रणों में लेखक का कर्मवादी रूप प्रायः सर्वत्र मिलता है। एक उदाहरण देखिए :—

> "कोई भी व्यक्ति स्वप्न देख-देखकर चरित्रवान नहीं बन सकता। चरित्र का निर्माण तो अपने-आपको गढ़-गढ़कर, ढाल-ढालकर करना होता है। कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा, संयम और सदाचार के प्रति श्रद्धा, सत्य के प्रति अनुराग, ज्ञान के प्रति एक सतत जिज्ञासा और मानवता के उत्सर्ग के प्रति दृढ़ आस्था ही महान चरित्र के मुख्य आधार हैं।"

**—निरंतर-विशेषता**

इधर के सभी उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पहले की कृतियों से अधिक सूक्ष्म है। इससे लेखक की शैली के उत्तरोत्तर विकास का पता चलता है।

जीवन की मान्यताओं के प्रति जो धारणा वाजपेयी जी की पहले थी वही अब भी बनी हुई है या कुछ परिवर्तित हुई है—इस तथ्य के निराकरण के लिए दो प्रसंग प्रस्तुत हैं :—

> (१) "आज हम कहाँ जा रहे हैं? हमारे जीवन में बात-बात में कपटाचार छाया हुआ है। हमारे मन को मिथ्याडम्बर ने इतना क्षुद्र, असंगत, महत्त्वाकांक्षाओं ने इतना निराश और पाखण्डपूर्ण तथा वाग्जाल ने इतना पतित बना डाला है कि आज हमारे यथार्थ रूप की स्मृति मात्र रह गई है। जीवन के सादेपन की ओर हमारी दृष्टि ही नहीं है। दूसरों को धोखा देकर, उन्हें ठगकर, महत्त्व और शक्ति का संचय करने की यह आँधी हमारी अन्तर्दृष्टि को कितना धुँधला बना रही है, इसकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हाय हमारे जीवन की यह कैसी अधोगति है।"

**—पिपासा, पृष्ठ २०, २१**

> (२) "मुझे जीवन में अब किसी बात की चाह नहीं रह गयी।

एक तरह से अब मैं समाप्त हो गया हूँ। तुमको मेरे आन्तरिक स्वरूप का ज्ञान नहीं है। सर काट लिए जाने के बाद धड़ मात्र जैसे तड़पता रहता है, इस समय बिल्कुल उसी स्थिति का अनुभव मैं कर रहा हूँ। जीवन की शेष घड़ियों में अगर तुम्हारी पावन आत्मीयता का सहारा न होता तो शायद मैं आज ही समाप्त हो गया होता। मगर नहीं, हम हारे हुए खिलाड़ी नहीं हैं। हम जीवन से लड़ना जानते हैं।"

**—अधिकार का प्रश्न, पृष्ठ ३३**

ऊपर के दोनों कथन जीवन की सामान्य परिस्थितियों के हैं। दोनों की रचना में लगभग २८ वर्षों का अन्तर है। ऐसा लगता है कि वाजपेयी जी का लेखक विस्तार से चलकर गहराई की ओर उन्मुख है, स्थूलता के स्थान पर उसे सूक्ष्मता अच्छी लगने लगी है और वह अब ज्ञात से अज्ञात की ओर चलने लगा है। अब पश्चाताप के स्थान पर संघर्ष की भावना आ गई है। हाँ, इतना अवश्य है, कि आत्मीयता और स्नेह की स्वर्ण किरण सदैव मानव को आह्लादित करती है, वाजपेयी जी की यह मान्यता आज भी उसी रूप में है। यही उनके यथार्थ का आदर्शवादी दृष्टिकोण है।

जीवन का विष पीने के लिए वे किसी शंकर की बाट नहीं जोह रहे हैं (और न पहले कभी ऐसा किया था)। प्रथम सोपान के आसपास के चित्रणों में जीवन का जो दैन्य चित्रित है, उसको अपने नवीन उपन्यासों में वाजपेयी जी ने एक नया उत्साह दिया है। एक बात इस प्रसंग में बहुत स्पष्ट है, कि उन्होंने मर-मर कर जीने का आदर्श नहीं संजोया अपितु प्राणों का उत्सर्ग सत्कर्म में करके जीने की प्रेरणा समाज को दी है। रही बात आत्मीयता और प्रेम की। वाजपेयी जी का जो मत इस प्रसंग में पहले था वही अब भी है। वे प्रेम को स्थिर वस्तु मानते हैं। आज करके कल छोड़ दिया जाने वाला प्रेम, प्रेम नहीं है। प्रेम से समस्त मानव-जीवन अनुप्राणित है। सन् १९३७ के आसपास वाजपेयी जी ने कहा था—'प्रेम में जो उत्सर्ग होना होता है, वह तो समर्पण और त्याग की वस्तु है, उसमें तो अपने-आपको मिटाना पड़ता है, उसमें तो तब तक झुलस-झुलसकर जल-जलकर रहा जाता है जब तक उसका निखिल कलेवर पंच तत्त्वों में नहीं मिल जाता।' [पिपासा, पृष्ठ ११३] अब तो मान्यता यहाँ तक पहुँच गई है कि विवाहिता नारी से विवश प्रेम मिलता है। प्रेम का वास्तविक निर्मल रूप तो प्रेयसी ही दे पाती है। 'विश्वास का बल' की वन्दना कहती है—"हर विवाहिता नारी विवश प्यार देती है, हर विवाहित पुरुष विवश प्यार ही पाता है। निर्मल प्यार केवल वह नारी दे सकती है जो प्रेयसी होती है।" [पृष्ठ ३३८]

प्रेम-प्रसंगों की उदारता के आधार पर यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि अब वाजपेयी जी विवाह की मर्यादा को नहीं मानते। विवाह की मान्यता वाजपेयी जी के उपन्यासों में एक जैसी है। इसे वे जीवन की बहुत बड़ी जिम्मेदारी मानते हैं जिसका निर्वाह करने में व्यक्ति को सतर्कता से चलना पड़ता है। विवाह और प्रेम के सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने विभिन्न पात्रों के माध्यम से अनेक प्रकार की बातें कही हैं, किन्तु सारी बातों का निष्कर्ष यही है कि मानव-जीवन को सुखमय बनाने के लिए विवाह आवश्यक है किन्तु प्रेम की भी अपनी सत्ता और महत्ता होती है जिसके आधार पर मानव-हृदय के लिए वह कम स्पृहणीय नहीं।

प्रारम्भ से लेकर आज तक के उपन्यासों में लेखक ने बहुधा यही प्रयास किया है, कि व्यक्ति का विवाहित जीवन सुखमय चित्रित किया जाय; किन्तु कभी-कभी उसे विचित्र उदाहरण मिले हैं। ऐसी स्थिति में लेखक ने समाज में पाये जाने वाले तथ्य के साथ अपनी कल्पना का संयोग किया है। समाज में 'त्रिवेणियों' की कमी नहीं है, जिनके मनचले व्यक्तित्व के कारण पता नहीं कितनी 'लक्ष्मियाँ' जीवन की सारी रातें रो-रोकर काट देती हैं, दिन उनके यहाँ कभी आता ही नहीं। समाज में वन्दना और हिमानी जैसी विभूतियाँ हैं, साथ ही नीलकमल और मुरली जैसी नारियाँ भी हैं, जो परिस्थितियों के थपेड़ों में अपने को सम्हाल नहीं पातीं। वाजपेयी जी ने सभी के लिए एक ढर्रा खोजने का प्रयास किया है। उन्मुक्त प्रेम का पक्षपाती जिस समय वाजपेयी जी का लेखक हो जायगा उस समय रमा त्रिवेणी के साथ चली जायगी, वन्दना राजीव के साथ, करुणा निखिल के साथ और इसी प्रकार अन्य भी।

प्रेम-प्रसंगों को लेकर जो चित्रण वाजपेयी जी ने पहले प्रस्तुत किया था उनमें करुण चित्रण की संयोजना करके पाठकों की भावनाओं को अनुकूल बनाया था। करुण प्रसंगों में पाठक के हृदय की करुणा विगलित हो जाती है। वह चित्रण के प्रति तन्मय और गम्भीर हो जाता है। 'दो बहनें', 'पिपासा', 'त्यागमयी' आदि उपन्यासों को प्रेम की भूमिका में ही दुःखान्त चित्रित किया गया है। यह परिपाटी आगे चलकर समाप्त-सी हो जाती है।

मृत्यु की अनिवार्यता किसी से छिपी नहीं है। हम जानते हैं कि इस संसार का नाटक समाप्त करके सभी को एक न एक दिन रंगमंच पर से हट जाना है; किन्तु फिर भी हमें मृत्यु से एक प्रकार का भय-सा लगा रहता है। वाजपेयी जी ने दुःखान्त अथवा करुण प्रसंगों में मृत्यु के जो चित्रण प्रस्तुत किये हैं, उनमें अन्तर जानने के लिए निम्नलिखित उद्धरणों पर ध्यान दीजिए :—

(१) "कुछ आलोचक हीरो अथवा हीरोइन के जीवनान्त को

ट्रैजिडी के रूप में देखते हैं। पर यह शेक्सपीरियन दृष्टिकोण है। इसमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि मरण एक बहुत बड़ी असफलता है। इसमें मृत्यु को भयावह देखा गया है। किन्तु मैं तो मृत्यु में भय नाम की कोई चीज नहीं देखता। जन्म अथवा सन्तानोत्पत्ति को जैसे मैं जीवन का एक विकास मानता हूँ, वैसे ही मनुष्य के देहान्त को भी।"

**—वाजपेयी जी का अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ९६**

(२) "सफलता के मार्ग में अनिश्चितता का कोई क्रम नहीं है। कर्म-क्षेत्र की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर जा पड़ने वाले योद्धा के लिए असफलता के एक क्षण के लिए भी डरने और आतंकित होने का कोई कारण नहीं है। इसलिए कि कर्म-क्षेत्र में युद्ध करते-करते यदि कभी मरण भी आ जाय, तो वह एक अमर जीवन को लेकर ही आयेगा। योद्धा का मरण उसकी पराजय कभी नहीं हो सकती, वह तो उसकी विजय है। युद्ध-क्षेत्र में मरने वाला योद्धा कभी नहीं मरता। (वाजपेयी जी जीवन को भी संग्राम ही मानते हैं।)"

**—यथार्थ से आगे, पृष्ठ 'घ'**

(३) "काल का एक दूसरा पक्ष भी है। जैसे उसकी आहार प्रणाली अत्यंत निर्मम और आतंकवादी होती है वैसे ही उसका शान्ति-परक पक्ष बहुत ही मांगलिक और रचनात्मक होता है।"

**—दूखन लागे नैन, पृष्ठ २५६**

इन कथनों के समय में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है; किन्तु लेखक की मान्यता कहीं बदलती हुई नहीं दिखायी पड़ी। मृत्यु सम्बन्धी जो विचार आज से पचीसों वर्ष पूर्व थे उन्हीं से मिलते-जुलते विचार आज के भी हैं। मृत्यु और दैन्य की घड़ियाँ करुण रस का विधान करती हैं। आँसुओं की धारा में सचमुच हृदय का कलमष धुल जाता है। वाजपेयी जी कलाकार का यह धर्म नहीं मानते कि वह समाज को अश्रुसागर में डुबोकर उसकी पंकिलता धो दे। दुख और पीड़ा के अपार कल्प वैसे ही मनुष्य के काटे नहीं कटते फिर यदि उसे साहित्य भी उसी प्रकार का मिला तो वह कहीं का नहीं रहेगा। यह मन्तव्य वाजपेयी जी के दुःखान्त चित्रण के विरोध में है। यहाँ एक बात का ध्यान रखना होगा, कि अपने साहित्य में वाजपेयी जी ने करुणा का सागर नहीं भरा। हाँ, आह्लाद और सौख्य के समुद्र में एकाध धारा करुण की आयी है तो उसका उन्होंने स्वागत किया है। यहाँ उनके पाठकों को किसी प्रकार की भ्रांति नहीं होनी चाहिए। परिणामस्वरूप यह तथ्य सामने आया कि प्रारम्भ से आज तक

मृत्यु सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन नहीं दृष्टिगोचर होता। जहाँ तक जीवन का सम्बन्ध है, उसकी सफलता पर अब वाजपेयी जी बहुत बल देने लगे हैं।

यद्यपि हास्य और व्यंग्य के सम्बन्ध में पीछे संक्षेप में विचार किया जा चुका है; किन्तु उसके क्रमिक विकास पर यहाँ ध्यान देना है। वाजपेयी जी की प्रारम्भिक कृतियों में हास्य के प्रयोग साधारण हैं। हास्य और व्यंग्य का पुट तो उनकी शैली की एक विशेषता है। 'पिपासा', 'त्यागमयी' और 'दो बहनें' आदि कृतियों में इस प्रकार के प्रयोग बहुत कम पाये जाते हैं जिनपर पाठक का मन हास्य से पुलकित हो उठे। इस शैली में इधर लेखक ने पर्याप्त विकास किया है। अब तो वे संवादों में हास्य लाने का अवसर कभी नहीं चूकते। कभी-कभी विरोधी बातों की रचना में उन्हें आनन्द आता है। पाठक सोचता है और आनन्द लेता है। कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

(१) "वे पूछने लगे—'मनोज को तुम जानते हो न?'

"..........क्यों न जानूँगा। जीवन की गति में सर्वत्र उसे देखता हूँ।'"

—चलते-चलते, पृष्ठ २६

(२) "इतना कहकर रामलाल रुका ही था कि मैंने कह दिया—'हाँ वही मेरी भाभी आप ही हैं।' तब रामलाल दृष्टि नीची रखकर पेन खोलता हुआ बोल उठा—'आप साक्षात् अन्नपूर्णा हैं। आपका दर्शन करके तो जैसे मैं कृतार्थ हो गया!'

'चलो! अब पितृ-पक्ष में तुमको गया नहीं जाना पड़ेगा।' अनायास मेरे मुँह से निकल गया—'क्योंकि उसका पुण्य तुमको यहीं मिल गया। लेकिन इस तीर्थ का पंडा मैं हूँ।'"

—**चलते-चलते, पृष्ठ ६२**

(३) 'इसी समय विमला वहाँ आ पहुँची और बड़े भैया के पास आकर बोल उठी, 'मौसिया आपने हिसाब देख लिया?'

बड़े भैया ने उत्तर दिया, 'क्यों? तुमको हिसाब के बारे में कुछ कहना है क्या?'

'हाँ, बहुत कुछ कहना है। इनसे पूछो, जो विवरण इन्होंने दिया है उसकी रसीदें कहाँ हैं?' कथन के साथ उसने कीर्ति के मुख की ओर देखा।

कीर्ति ने उत्तर दिया—'बड़े मामा, कुछ रसीदें तो हैं और कुछ

अभी लेने को हैं।'

'तब यह हिसाब है कि पोल खाता ? एक सार्वजनिक संस्था के आय-व्यय का वार्षिक चिट्ठा है या कुँजड़े का गल्ला ?' "

**—रात और प्रभात, पृष्ठ १०३**

(४) "इतने में बेला आ पहुँची। दोनों को गम्भीर देखकर बैठते ही बोली—'सुनती हूँ, आज मुरली के यहाँ तुम्हारी दावत है।'

मुरली ने चाय का चम्मच बेला के आगे करते हुए कह दिया—'दवा खाओ दवा। दावत खाने की स्थिति उत्पन्न करने से पहले अदावत करवा देने में जिन्हें मज़ा आता है, उनके साथ फिर ऐसा विधि निषेध हो जाता है।'

'यह तुमने ठीक कहा मुरली।' यशवन्त ने गरम पकौड़ी दाँत से काटते हुए कह दिया।

यशवन्त की ओर देखे बिना मुरली मुसकराती हुई बोली—'कहती तो सदा ही मैं ठीक हूँ। मगर लोग हैं कि समझने में ग़लती कर बैठते हैं।' "

**—टूटते बंधन, पृष्ठ ६८**

इधर वाजपेयी जी ने हास्य और व्यंग्य के प्रसंग छिटपुट प्रस्तुत किये हैं। इन उद्धरणों में जैसा हास्य है इसी प्रकार की संयोजना उनके प्राय: सभी नवीन उपन्यासों में है। हास्य के इन सन्दर्भों में कभी-कभी तो संवाद भी बड़े हो गये हैं। कहीं-कहीं तो लेखक की भाषा का स्तर भी सामान्य हो गया है। हास्य और व्यंग्य की जितनी दिशाएँ लेखक ने इधर अपनायी हैं वे इस प्रकार हैं :—

(१) संवादों में हास्य-रचना।

(२) श्लेष के आधार पर (जैसे 'चलते-चलते' वाले उद्धरण में)।

(३) व्यंग्य-शैली के आधार पर हास्य।

(४) कथन में विरोधाभास लाकर हास्य का संयोजन।

(५) पात्र विशेष की मूर्खता प्रदर्शित करने में हास्य विधान।

कभी-कभी तो हास्य के प्रसंगों में लेखक को इतना आनन्द प्राप्त हुआ है कि वह उसे आगे बढ़ाता ही गया है। ऐसे स्थलों को पाठक तन्मय होकर भी बड़ी जल्दी-जल्दी पढ़ता और आगे बढ़ता जाता है। हास्य और मान मिश्रित

वार्तालाप की शैली के लिए एक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ जिसमें वाजपेयी जी की लेखनी पुरानी पगडंडी छोड़कर लेखन कला के नए राजपथ पर आ गयी है :—

"टैक्सी अब प्रार्थना समाज के पास से चल रही थी। वन्दना को अब और कुछ न सूझा तो वह बोली—'कवि जी ! एक बात मेरी समझ में नहीं आयी।'

राजीव ने उसी ढंग के तेवर में उत्तर दिया—'कहानी-कला जी, आपकी उस बात की ज़रा शक्ल देखना चाहता हूँ मैं।'

वन्दना ने हास्य व्यक्त किये बिना कह दिया—'आपकी यह प्रतिभा मेरे किस काम आयेगी ?'

राजीव पहले मुसकराया फिर बोला—'अपने मन से पूछो।'

वन्दना मुँह बनाती हुई बोली—'शीशे में, नहीं, नहीं, पानी में, मेरा मतलब है तालाब में ज़रा अपना मुँह देख लीजिए !'

राजीव गम्भीर होकर मुसकराता हुआ बोला—'पछताओगी जीवन-भर !'

'अरे जाओ, ऐसे मैंने बहुत देखे हैं.' कहती-कहती वन्दना तुरन्त सम्हल गयी। 'बहुत-से तो नहीं, अभी एक ही देखा है। मगर ख़ैर, कोई बात नहीं। मज़ाक छोड़ो। अब मैं बहुत गम्भीरतापूर्वक तुमसे एक बात कहने जा रहा हूँ। कान खोलकर सुन लो। मैंने कुछ ऐसे गीत लिखे हैं जो चित्रकथाओं में उन परिस्थितियों के बहुत ही अनुरूप हैं जो प्रायः सभी में रहती हैं। तुम चाहो तो उन्हें कहीं न कहीं जमा ही सकते हो। हालाँकि मैं जानती हूँ कि तुम ऐसा करोगे नहीं। क्योंकि तुम्हें इस बात का ज्ञान हो गया है कि जिस दिन मेरे गीत चल गये उस दिन तुमको तो कोई पूछेगा ही नहीं।'

'बहुत सुन्दर समाचार है। कोई पत्रकार मेरी 'इन्टरव्यू' के समय तुम्हारा यह कथन भी सम्मिलित कर देगा तो बड़ा आनन्द आयेगा। अच्छा, ऐसा करो कि जब पत्रकार लोग मेरे पास आया करें तब तुम भी एक बार मुझसे सलाम कर जाया करो ! सलाम माने नमस्ते। इस प्रकार कभी न कभी मेरे साथ-साथ तुम्हारा भी नाम आ जायगा। मानो चाहे न मानो, प्रस्ताव बुरा नहीं है।' "

**—विश्वास का बल, पृष्ठ २३६**

यह प्रसंग तो अभी काफी लम्बा है; किन्तु इतने से ही यह पता लग जाता है कि इस स्थल पर हास्य ही नहीं है अपितु कई मनोभाव एकसाथ काम कर रहे हैं। मनोभावों की संसृष्टि करने में वाजपेयी जी की लेखनी ने जो निपुणता प्राप्त की है वह अपने में उत्तरोत्तर विकास की परम्परा और रूप लिए हुए है। हास्य और विनोद की भूमिका में पाठक के हृदय को उपन्यासों की रोचकता प्रभावित करती चलती है। कहीं-कहीं तो दार्शनिक विचारों की व्याख्या के समय भी भाषा और शैली की निपुणता के माध्यम से अब हास्य का संयोजन कर दिया जाता है।

इधर वाजपेयी जी की शैली में जो विकास हुआ है उससे भाषा और संवाद भी प्रभावित हुए हैं। 'प्रेम-निर्वाह', 'लालिमा' आदि की भाषा और 'विश्वास का बल', 'चलते-चलते' या 'अधिकार का प्रश्न' आदि उपन्यासों की भाषा में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। हाँ, शैली और भाषा के परिष्करण और परिमार्जन का यह मंगल शकुन 'पिपासा' और 'दो बहनें' के प्रकाशन के बाद से ही मिलने लगता है

इस विकास-क्रम में एक बात यह भी सराहनीय है कि वाजपेयी जी की हर नयी कृति कोई न कोई नयी बात लेकर आती है। क्षेत्र वही है, आदर्श वही है, यहाँ तक कि युग का रूप भी वही है; किन्तु प्रस्तुतीकरण की शैली में परिमार्जन हुआ है। चरित्रों की प्रस्तुति में तब और अब में अन्तर पाया जाता है। कथानक-प्रधान उपन्यासों में चरित्रों के आकलन की जो परिपाटी अपनायी गयी है वह चरित्र-प्रधान उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है। इधर वाजपेयी की अभिरुचि चरित्रों की ओर जब से अधिक गयी है तब से चित्रण में भी अनोखापन आया है। जगत के व्यापारों से प्रभावित होकर जिन पात्रों का चित्रण किया गया है वे एक ही समाज के होते हुए भी एकरूप नहीं हैं। किसी भी प्रकार के पात्र का पुनरावर्तन नहीं हुआ है। यह उपन्यास-कला की एक विशेषता है जो वाजपेयी जी के चरित्र-चित्रण में पायी जाती है। पति, पत्नी, प्रेमी, प्रेमिका, पिता, पुत्र, माता, चाची और नेता, सुधारक, गृहस्थ आदि के जो चरित्र वाजपेयी जी ने प्रस्तुत किये हैं, उनमें नयापन और मौलिकता रहती है। अभी उनकी प्रस्तुति के सम्बंध में यह भी कहना कठिन है कि वह अपने चरम उत्कर्ष पर है। 'पतिता की साधना' या 'त्यागमयी' के नारी-चित्रण और 'सूनी राह' तथा 'टूटते बंधन' के नारी-चित्रण में अन्तर है। अधिक लिखने वाले लेखक के साथ पुनरावर्तन की संभावना सदैव बनी रहती है; किन्तु नवीन चिन्तन शैली और प्रस्तुति शैली के कारण वाजपेयी जी इस संभावना से मुक्त हैं।

जिस गति से वाजपेयी जी का उपन्यास-साहित्य आगे बढ़ रहा है, उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी को अभी बहुत कुछ मिलना है। जैसे-जैसे मनुष्य का जीवन आगे बढ़ेगा वैसे-वैसे वे अपनी शैली में उसका चित्रण प्रस्तुत करते चलेंगे। अन्त में यह कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी के 'अब' और 'तब' में आकाश और पाताल का अन्तर नहीं पाया जाता। 'तब' में 'अब' के संकेत मिल जाते हैं इसलिए परस्पर दोनों के सम्बन्ध का भी अपना महत्त्व है।

---

११

# वाजपेयी जी का स्थान

साहित्य की जितनी विधाएँ आज तक बन पायी हैं, उनमें उपन्यास का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह विधा सबसे पहले तो मनोरंजन और प्रसादन का साधन मात्र मानी जाती थी; किन्तु जब से इसने मानव और उसके जीवन से अपना सम्बंध जोड़ा है तब से और आकर्षक बन गयी है। अब तो यहाँ तक कहा जाता है कि यदि मानव-जीवन का आँखों देखा वर्णन पढ़ना हो तो उपन्यास पढ़िए। इस काम में मैं उपन्यास को इतिहास से आगे मानता हूँ। कारण यह है कि इतिहास अपने खण्डहरों के स्वामियों के नाम बता देगा, और आगे बढ़ा तो राजाओं का लेखा-जोखा तिथियों के अनुसार दे देगा; किन्तु युद्ध में प्राणोत्सर्ग करने वाले अदना सिपाहियों की, भूखी और गरीब जनता की, अधिकारियों के विलास और उनकी मायाविनी चेष्टाओं की, कुलीनता के मोह में अंधी जातियों की, शासक और शासित की सदाशयता और क्रूरता की कहानी सच्चे रूप में इतिहास कभी नहीं कहता। अभी यह बात अनिर्णीत है, कि आर्य कहाँ से आये? इतिहासकारों में ऐकमत्य नहीं हो पाया, कि औरंगजेब कुशल शासक था या अकबर? कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ इतिहास असमर्थ है वहाँ साहित्य का सामर्थ्य सराहनीय है।

उपन्यास ने मानव का अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए एक प्रशस्त आधार-भूमि दी। यही कारण है कि हिन्दी में उपन्यासों की रचना अधिक हुई। जनता ने उपन्यासों को चाव से पढ़ा। उसे जब वहाँ अपनी ही चित्रावली मिली तो प्रसन्नता से उसने साहित्य की इस विधा को सराहा। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी का उपन्यासकार मिर्जापुर की सुरंगों से निकलकर अनेक नदियों, पर्वतों, घाटियों, गाँवों, खेतों और खलिहानों को देखता हुआ बड़े-बड़े नगरों की यात्रा करने लगा। अब तो वह मानव-मन में पैठ गया है। वहाँ के बहुत सारे आँकड़े उसने भेजे हैं। प्रतीत होता है, मन की नगरी में कुण्ठाओं, ईहाओं और अहम् भावना की वीथियों में उसका मन रम गया है। देखिए वहाँ से फिर कब लौटता है? हम तो इसी बात पर संतोष कर लेते हैं कि वह वहाँ से अपनी देखी-सुनी बातों का विवरण भेजता रहता है जिसे पढ़कर हमें उसकी स्थिति पर कुछ

सोचने-विचारने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

इस यात्रा में उपन्यासकार ने धर्म, राजनीति, इतिहास और समाज से अपना सम्बंध जोड़ा है। किसी ने मन्दिरों और मस्जिदों के देवता की शरण ली। कोई साम्यवाद, समाजवाद और व्यक्तिवाद के जाल में पड़ा। किसी ने ढूहों और खण्डहरों की मौन कथा को साहित्य के बोल दिये और किसी की ग्राहिका शक्ति समाज के यथार्थ और आदर्श का चयन करने लगी। फलतः अनेक प्रकार की अनुभूति और कल्पनाओं से अनुस्यूत सामग्री हिन्दी उपन्यास को मिलने लगी। उपन्यासकारों की इस जय यात्रा को जनता देखती रही है। उत्साह और उमंग के साथ कृतियों को अपनाती रही है और अधकचरे तथा हीन विचारों से युक्त लेखनी को निराकृत करती रही है। इस प्रसंग में मुंशी प्रेमचन्द ने उपन्यास-साहित्य की चित्रावली का जो रेखा-क्रम तैयार किया था उसमें अब रंग भरता आ रहा है। सर्जना की यह मंगलमय परिणति है।

बाबू देवकीनन्दन खत्री ने उपन्यासों का जो मार्ग खोजा था, मुंशी प्रेमचन्द जी उस पर नहीं चले। उन्होंने अपना पृथक् ढंग निकाला। जिस वर्ग ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया उसी का चित्रण वे अपनी कृतियों में कर पाये। वर्ग-चित्रण की यह परम्परा हिन्दी में अधिक दिनों तक नहीं चल पायी। शीघ्र ही नवोदित (अब प्रौढ़) उपन्यासकारों ने व्यक्ति के मानसलोक का अध्ययन और चिन्तन प्रारम्भ किया। पश्चिमी प्रभाव में आकर फ्रॉयड, एडलर तथा यूंग भी पढ़े गये। इस अध्ययन और चिन्तन के आधार पर हिन्दी उपन्यास साहित्य में व्यक्तिवादी कृतियों का ताँता बँधा। कथा के स्थान पर चरित्र को महत्त्व प्रदान किया गया। समीक्षकों ने कई 'स्कूल' खोल डाले। खोज खोज करके उपन्यासकारों के नाम अलग-अलग 'स्कूलों' में दर्ज किए गये। एक स्कूल प्रसाद के नाम पर खुला। दूसरा खुला मुंशी प्रेमचन्द जी के नाम पर। और इसी प्रकार अन्य भी सामने आये।

उपन्यासकार भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नाम अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्वनियोजित स्कूलों में लिखा गया। किसी ने उन्हें सामाजिक उपन्यासों का प्रणेता कहा और किसी ने व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक रचनाकार। यहाँ श्री राजेन्द्रसिंह गौड़ के विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

"वाजपेयी जी की मौलिक रचनाएँ हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। उनकी गणना प्रेमचन्द और प्रसाद के समकालीनों में की जाती है। प्रेमचन्द अपने कथा साहित्य में अधिकांश बहिर्मुखी हैं, प्रसाद अन्तर्मुखी और वाजपेयी जी न तो पूर्णतया बहिर्मुखी और न अन्तर्मुखी। इन दोनों के समन्वय से

जो एक तीसरे प्रकार की विचारधारा बनती है, उसी का प्रतिनिधित्व वाजपेयी जी ने अपनी रचनाओं में किया है।" इस कथन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमचन्द जी समाज के चित्रकार हैं और प्रसाद जी व्यक्ति के। यद्यपि 'समाज' के अन्तर्गत 'व्यक्ति' का भाव पाया जाता है कि इधर व्यक्तिवाद का प्रभाव अधिक बढ़ने से 'व्यक्ति का पृथक् महत्त्व भी माना जाता है। मुंशी प्रेमचन्द और प्रसाद जी के वर्ण्य विषय में एक बहुत बड़ा अन्तर यह पाया जाता है कि प्रसाद समाज के पंक को उसके सामने स्पष्ट रूप से रखना चाहते हैं जब कि प्रेमचन्द समाज का चित्र उतार कर उसमें अपनी कल्पना का रंग भरना चाहते हैं। ऐसा कर देने से चित्र के सौन्दर्य और आकर्षण में वृद्धि हो गयी। वाजपेयी जी ने अपने चित्रण के लिए मध्यम वर्ग के जन-जीवन को चुना। जब कभी स्वाद बदलने के लिए वे नगर से पुनः गाँव की ओर लौटे, उस समय भी मध्यम वर्ग ने उनका पिण्ड नहीं छोड़ा। 'भूदान' उपन्यास की स्थिति बहुत कुछ इसी प्रकार की है। जिस प्रकार मुंशी प्रेमचन्द के 'गोदान' में ग्रामीण जीवन और नगर के जीवन का समांतर पर वर्णन है उसी प्रकार वाजपेयी जी के 'भूदान' में भी। शैली का अन्तर दोनों कृतियों में साम्य नहीं आने देता। वाजपेयी जी का वर्णन व्यक्तिवादी अधिक हो गया है। मुंशी प्रेमचन्द के विचार 'मिशनरी' हैं जब कि वाजपेयी जी के लेखक के विचार किसी सीमा तक 'विज़नरी' हैं। विचित्र बात तो यह है, कि प्रेमचन्द की 'मिशनरी' भावधारा अनेक प्रयत्न करने पर भी आगे न बढ़ पायी जबकि वाजपेयी जी के 'विज़नरी' दृष्टिकोण आज अपने-आप सर्वव्यापी हो रहे हैं। किसी को इस विषय में प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

वाजपेयी जी के चित्रण को अधिक व्यक्तिवादी होने की जो बात अभी मैंने पहले कही है उसके सम्बंध में कुछ और विचार कर लिया जाय। हम उनके केवल चार प्रतिनिधि उपन्यास लेते हैं—'राजपथ', 'चलते चलते', 'विश्वास का बल' तथा 'टूटते बंधन'। 'राजपथ' में दिलीप के व्यक्ति का चित्रण महत्त्वपूर्ण और प्रभाव-युक्त लगता है यद्यपि समाज से उसका सम्बंध है। उसके माध्यम से हमें समाज की दशा का पता अवश्य चलता है; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दिलीप के चरित्र में निखार लाने की योजना में लेखक ऐसा कर रहा है। 'चलते-चलते' का राजीव, 'विश्वास का बल' का त्रिवेणी अथवा रमा तथा 'टूटते बंधन' की मुरली या यशवंत के चरित्र में भी यही बात पायी जाती है। इसका एक कारण है—वाजपेयी जी ने अपने उपन्यासों में चरित्र पर बल दिया है। उनके उपन्यासों में अधिकांशतः चरित्रों के जीवन का विकासक्रम पाया जाता है। ऐसी स्थिति में चित्रण का व्यक्तिवादी हो जाना स्वाभाविक है।

लेखन-शैली में जो विविधता साहित्यकारों में पायी जाती है उसका कारण व्यक्तित्व की विभिन्नता है। जिन परिस्थितियों के परिवेश में लेखक का जीवन बीतता है, उन्हीं का चित्रण उसकी कृतियों में पाया जाता है। प्रसाद और मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रकृति के अलगाव का कारण दोनों लेखकों की परिस्थितियों, धारणाओं, विचारों और उद्देश्यों की भिन्नता है। यथार्थ का वर्णन प्रसाद जी के समान वाजपेयी जी ने नहीं किया। यद्यपि यथार्थ-चित्रावली को देखकर वाजपेयी जी समाधि नहीं लगाते, आँखे खोले रहते हैं, लेखनी अपना काम करती रहती है, किन्तु नग्न सत्य और कुत्सित यथार्थ का चित्रांकन करने की शैली उनकी नहीं। इस सम्बंध में प्रसाद की शैली से उनकी शैली सर्वथा भिन्न है।

भाषा में भी प्रसाद और वाजपेयी जी का पथ अलग-अलग है। प्रसाद जी के 'कंकाल' की भाषा काव्यात्मक और साहित्यिक है जबकि 'तितली' की भाषा आचार्य पं० कृष्णशंकर शुक्ल के मतानुसार और हलके पर लगा कर उड़ी है। वाजपेयी की भाषा सामान्य और सरल प्रवाही है। उसमें कविता का गुण नहीं पाया जाता। गद्य का पौरुष वाजपेयी जी की भाषा से सर्वत्र झांकता रहता है। जिस प्रकार मुंशी प्रेमचन्द की भाषा सामान्य पाठक के लिए आकर्षक है उसी प्रकार वाजपेयी जी की भी। अपना-अपना मार्ग दोनों ने अलग-अलग खोजा है। भाषा में मुहावरों के प्रयोग, उपयुक्त शब्दों का चयन और वाक्यों की बनावट में अन्तर अवश्य है किन्तु स्तर एक-सा ही है।

मुंशी प्रेमचन्द जी ने आदर्शोन्मुख यथार्थ की वकालत की है। वाजपेयी जी ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। प्रेमचन्द जी ने समाज की भावनाओं को उभार कर अपने पक्ष में लाने का प्रयास किया है और वे अपने इस कार्य में सफल हुए हैं। वाजपेयी जी अपने पाठक को अपनी कला के आधार पर आकर्षित करते हैं। एक प्रसंग में उनकी नाटकीयता पर ध्यान दीजिए। यहाँ शब्दों का चयन और शैली भी दर्शनीय है :—

> "पहले उसने सोचा, 'मैं क्यों इसे उठाऊँ ? क्या जरूरत है कि मैं इसको उठाकर उसी बेंच के ऊपर रख दूं ?' फिर वह अपने आप से पूछने लगा, 'वह अधेड़ स्त्री, इसकी नौकरानी है कि नींद की नानी ? जब से लेटी है टस से मस नहीं हुई। पर···लो, वह तो जगती है··· उठती है, उठती है, उठी, उठी। अरे, वह तो चल दी ! ओः ! लैट्रिन को चली गयी।···बाबू जी सोते क्या हैं, लकड़ी पर खराद के स्वरों की नक्काशी करते हैं।···लो वह आयी, वह आयी,

और फिर लेट रही। पेट क्या है? दलदल की पैरोडी है। मगर···मगर लो वह फिर सो गयी! जैसे नींद उसकी मुट्ठी में हो। दो आने की नींद मुझे दे देती तो मैं तेरा बड़ा उपकार मानता, मेरी भावी ससुराल की भैंस!···चुप! यही हाल रहा तो तुम पागल हो जाओगे।···तो अब इसी बात पर एक सिगरेट चल सकती है।' "

**—एक प्रश्न, पृष्ठ ९**

कौन ऐसा पाठक होगा जो वाजपेयी जी की इस कला पर रीझेगा नहीं। अपने आदर्शवादी विचारों को वे कला और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत करते हैं। साथ ही यथार्थ चित्रण का प्रस्तुतीकरण भी इसी प्रकार करते हैं। यहीं वे प्रसाद और प्रेमचन्द से अलग हो जाते हैं, किन्तु जिस प्रकार प्रसाद जी ने समाज के पाखण्ड, वासना और 'गुरुडम' को समीप से देखा है तथा प्रेमचन्द जी ने ग्रामीण समाज के रूप को पहचाना है उसी प्रकार वाजपेयी जी ने मध्यम वर्ग का मूल्यांकन किया है। अन्तर केवल इस बात का है, कि प्रसाद और प्रेमचन्द जी ने समाज के बाह्य रूप को देखा, जब कि वाजपेयी जी ने समाज से होते हुए व्यक्ति के पास पहुँचकर उसके हृदय के नाना व्यापारों को बूझा और अपनी लेखनी के माध्यम से उन्हें रूप दिया।

वाजपेयी जी के समवयस्क उपन्यासकारों में बाबू वृन्दावनलाल वर्मा का नाम आता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने एक बार प्रसाद जी से कहा था, कि जिस प्रकार आपने ऐतिहासिक नाटकों के प्रणयन से हिन्दी को सम्पन्न बनाया उसी प्रकार अपनी उसी कुशल लेखनी से ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना कीजिए। शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस बात का संकेत किया है कि प्रसाद जी ने कार्य प्रारम्भ भी किया था; किन्तु अकाल काल कवलित हो जाने से बनती हुई बात बिगड़ गयी। वस्तुतः इस कार्य को वर्मा जी ने पूरा किया। ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में वे अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। वाजपेयी जी और वर्मा जी का सम्बंध केवल शैली में देखा जा सकता है; क्योंकि दोनों की विषय-वस्तु में अन्तर पाया जाता है। वर्मा जी ने मूक खण्डहरों को स्वर दिया है जब कि वाजपेयी जी का चित्रण वर्तमान समाज का है। वर्मा जी ने इतिहास की भग्न कड़ियों को जोड़कर शृंखला को आगे बढ़ाया है, वाजपेयी जी ने यथार्थ के कुहासे में आदर्श के आलोक की आशा दिलाई है। ऐतिहासिक उपन्यासों के रचनाकार के नाते वर्मा जी ने सामयिक और आंचलिक शब्दों के प्रयोग भी किये हैं। वाजपेयी जी की भाषा समसामयिक है। वर्ण्य वस्तु की भिन्नता के कारण शैली पर भी प्रभाव पड़ा है। परिणामस्वरूप वर्मा जी की शैली में

ऐतिहासिक विषय-वस्तु होने से रूखापन आ गया है। 'मृगनयनी' और 'विराटा की पद्मिनी' जैसी कुछ कृतियां इस चार्ज से सर्वथा मुक्त हैं। वहां तो आवश्यकता पड़ने पर वीणा पर चलने वाली अँगुलियाँ तलवार थाम लेती हैं और वर्मा जी की लेखनी के माध्यम से इतिहास साहित्य की वाणी में बोलने लगता है। उनके उपन्यासों में अतीत का महत्त्व है जब कि वाजपेयी का चित्रण वर्तमान का है। इधर मैंने सुना है, कि वाजपेयी जी का विचार ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का है। हम तो उस दिन की प्रतीक्षा में हैं, जब वर्तमान का हृदय पढ़ने वाला उपन्यासकार अतीत का चित्रण प्रस्तुत करेगा।

जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला और वाजपेयी जी के रचना-कौशल में सबसे महत्त्वपूर्ण समानता शैली की सजगता की है। जैनेन्द्र जी और वाजपेयी जी दोनों अपनी-अपनी शैलियों के लिए प्रसिद्ध हैं। स्वभाव के अनुसार ऐसा हो सकता है कि जैनेन्द्र जी शैली के प्रति सर्वथा अबोध होने की बात करें किन्तु उनकी कृतियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि लेखक अपनी शैली के प्रति पूर्णरूपेण सजग है। यही बात वाजपेयी जी में पायी जाती है। शैली में सजगता और सतर्कता उनके उपन्यासकार का एक विशेष गुण है। एक बार ई० एम० फारेस्टर महोदय ने कहा था कि जैसे स्वर की समाप्ति पर एक विशेष प्रकार की स्वरलहरी का आभास होता रहता है उसी प्रकार किसी कृति के चरित्र को पढ़ लेने के बाद उसका प्रभाव पाठक के मन पर रहता है। जो लेखक अपने चरित्रों के माध्यम से जितना अधिक प्रभाव अपने पाठकों के हृदय पर डाल लेता है, वह उतना ही सफल माना जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दिशा में 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'टूटते बंधन' की मुरली में बहुत कुछ समानता पायी जाती है। अन्तर केवल इतना है कि मृणाल के प्रसंग की बातें अनकही होकर भी कही हुई लगती हैं तथा मुरली के यहाँ लुकाव-छिपाव नहीं पाया जाता। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर दोनों चरित्रों का विकास हुआ है, किन्तु शैली के अन्तर के कारण प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी चित्रित की गयी हैं। परिस्थितियों में जकड़ी रहने वाली नारी के व्यभिचार की असमर्थता के प्रति आकर्षण का एक चित्र 'त्यागपत्र' से देखिए :—

> "इन बुआ का मैं क्या बताऊँ? इनकी इस कोठरी में मैं अपना ही क्या बताऊँ? यहाँ सब उलट-पुलट गया मालूम होता है। पतिगृह को छोड़ कर यहाँ गन्दे व्यभिचार में पति-धर्म की बात करती है और उसको सुनता हुआ एक पढ़ा-लिखा मुझ जैसा समझदार युवक उस नारी को लांछित नहीं करता बल्कि उसके प्रति और खिचकर रह जाता है।

ओह ! असह्य है।"

समाज की अव्यवस्था से जैनेन्द्र जी का लेखक खीझा है। उन्होंने समाज की नारी का चरित्र बुआ के माध्यम से चित्रित किया है और 'असह्य' कहकर वेदना व्यक्त की है। यहाँ तक कि यथार्थ के चित्रणों में आदर्श की धारा भी क्षीण होती दिखायी पड़ती है। 'टूटते बंधन' की मुरली के साथ जो व्यवहार अपने समाज ने किया है उसका चित्रण एक कुशल शिल्पी की भांति वाजपेयी जी करते हैं। जैनेन्द्र जी की 'बुआ' की जो बात पहले कही गयी है—वह एक अधिकारी के माध्यम से कही गयी है। 'मुरली' की वेदना की कहानी उसके आँसू कहते हैं; किन्तु प्रभाव एक प्रशासनिक अधिकारी के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है—"मैं आपको देखते ही समझ गया कि आप बहुत दुःखी हैं; और भी एक बात है, आपको मेरे सम्बंध में शायद कुछ न मालूम हो। इसलिए मैं आपको इतना और बता दूं कि अब तक मैं अकेला ही हूँ और अकेला रहता भी हूँ। लेकिन मैं प्रलोभन से हीन हूँ। मेरे पास किसी प्रकार का आश्वासन भी नहीं है, न अभी से मैं कुछ कह ही सकता हूँ। लेकिन मानवता के लिए मेरे दिल में जगह है और काफी है। आप चाहें तो मेरे यहाँ चलें वैसे मैं कोई ज़ोर भी नहीं देता। मुझे जनता की व्यथा कथा सुनने के साथ थोड़ी दिलचस्पी है। इसके सिवा आपको मालूम ही है कि मेरी अपनी एक मर्यादा है, मैं एक प्रशासनिक अधिकारी हूँ।" ['टूटते बंधन', पृष्ठ १६०] कहीं-कहीं वाजपेयी जी की 'मर्यादा' ने उनकी कला के साथ अन्याय किया है। यद्यपि इस प्रकार की बात में 'कला जीवन के लिए' तर्क की आड़ में बचत की बात सोची जा सकती है किन्तु इस दाँव से कलाकार के मर्म पर आघात पहुँचता है जिसे वह अपनी धुन में नहीं समझ पाता। इस प्रसंग में ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार सुधारक का कौपीन धारण कर अपनी जादुई करामात से समाज को चकित करना चाहता है। अपने को परम ईमानदार कहने वाला व्यक्ति ईमानदारी से प्रायः दूर रहता है। सच्चरित्रता का रामनामी दुपट्टा ओढ़ने वाले विश्वास की बांसुरी बजाकर समाज को चकित चाहें कर दें किन्तु उनके चरित्र की स्थायी छाप नहीं पड़ पाती। फलस्वरूप हम यह कह सकते है, कि जैनेन्द्र जी का साहित्यकार केवल साहित्यकार है जबकि वाजपेयी जी के साहित्यकार के शिर पर मर्यादा की टोपी रखी हुई है। ऐसा लगता है कि लेखक अपने जीवन की घटना विशेष के प्रभाव को अभी तक नहीं भूल पा रहा है।

मैंने यहाँ वाजपेयी जी से अन्य उपन्यासकारों के लगाव और अलगाव में प्रकृति का ध्यान रखा है। जिस प्रकार वाजपेयी जी की अपनी एक दिशा है उसी प्रकार अन्य उपन्यासकारों के सन्दर्भ में भी सोचा जा सकता है। आंचलिकता की

विशेषता रखने वाले उपन्यासकार के साथ वाजपेयी जी का कोई मेल-मिलाप नहीं बैठ पाता है। यौनभावना को उद्दीप्त करने वाले या स्पष्ट कामभावना पर आधारित उपन्यासकारों से भी वे सर्वथा पृथक् हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से उनके उपन्यासकार को इस कोटि के अन्य उपन्यासकारों की कृतियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। वैसे तो आज का प्रत्येक उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक चित्रण करने का प्रयास करता है। कुछ हाथ तो मँज गये हैं और कुछ का प्रयास अधकचरा है। मनोविश्लेषण का सही और आकर्षक रूप देने में श्री इलाचन्द्र जोशी का नाम लिया जाता है। मन के अनेक रूपात्मक संसार का चित्रण करने में जोशी जी को हिन्दी साहित्य में जो सफलता मिली है वह अन्य किसी उपन्यासकार को नहीं मिली। मन की गहराइयों में जाकर जोशी जी ने तमाम नई-नई बातों का पता लगाया है। अपने पात्रों में उन बातों को घटित भी किया है। इस प्रक्रिया में उनका मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण उभरकर सामने आ गया है और चरित्रों के स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँची है। कहीं-कहीं तो ऐसा भान होने लगता है, कि जोशी जी का अमुक पात्र किस दुनिया का है ? उनके सिद्धांतों के प्रकाशन में कला को धक्का पहुँचा है। उपन्यासकार मानव-जीवन का आख्याता और व्याख्याता दोनों होता है। पाठक को बड़ी निराशा तब होती है जब उसे किसी उपन्यासकार को मनोविज्ञानवेत्ता मात्र मानने के लिए विवश होना पड़ता है। पात्र, घटना तथा वातावरण आदि का स्थान गौण हो जाने पर हाथ लगता है केवल 'मनोविज्ञान' जो उपन्यासकार का ध्येय नहीं है। जोशी जी के चरित्र और घटनाएँ अनुभूति को केवल स्पर्श करती हुई कल्पना पर आधारित हैं। वाजपेयी जी के यहाँ मनोवैज्ञानिकता की अतिशयता नहीं पायी जाती। उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण स्वाभाविक और कल्पनातीत नहीं होते। अनुभूतियों का आधार बने रहने के कारण अस्वाभाविकता नहीं पायी जाती। चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की कला में वाजपेयी जी और जोशी जी में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। समता तो केवल इस बात की है कि दोनों ने मनोवैज्ञानिकता का ढर्रा अपनाया है, किन्तु उसका रूप दोनों के प्रसंगों में साधन और साध्य का हो गया है।

वाजपेयी जी अपनी कृतियों में पाप और पुण्य का विवेचन अपने ढंग से करते हैं जिसमें उनका आदर्शवादी स्वर ऊँचा रहता है। भगवतीचरण वर्मा वाला दृष्टिकोण उन्होंने नहीं अपनाया। भगवतीचरण जी ने अनुराग और विराग, भोग और त्याग के द्वन्द्व को दिखाते हुए अपनी निजी भावना को मान्यता दी है जो सर्वथा यथार्थवादी है। यह बात मैं 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आखिरी

दाँव', 'रेखा' आदि समस्त कृतियों के सम्बंध में कह रहा हूँ। वाजपेयी जी और वर्मा जी के दृष्टिकोणों में अन्तर होने के कारण वस्तु और शैली में भिन्नता है। प्रस्तुतीकरण और युग-बोध में भेद है। वर्मा जी की 'चित्रलेखा' कृति की वस्तु काल्पनिक होते हुए भी ऐतिहासिक परिवेश में है। शेष उपन्यासों में लेखक ने आज के समाज का चित्रण किया है। वाजपेयी जी उपन्यासों की कथावस्तु की यात्रा में सदैव आगे ही बढ़ते रहे, पीछे नहीं लौटे। इसीलिए इतिहास से सामग्री नहीं ली। वर्मा जी ने रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़ कर नये युग के निर्माण के उपक्रम तैयार किये हैं जब कि वाजपेयी जी रूढ़ियों और हीन परम्पराओं को तोड़ने की बात करते हुए भारतीय संस्कृति की आस्थाओं के प्रति आशा लगाये हैं। उनका विचार ध्वंस के पश्चात् निर्माण का नहीं अपितु इस अविश्वासी, कपटी, अहंकारी, पाखण्डी और असभ्य समाज के सुधार का है। साथ ही समाज की आदर्शवादी प्रवृत्तियों का मूल्यांकन भी है।

अज्ञेय, यशपाल, अश्क, अमृतलाल नागर, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, चतुरसेन शास्त्री आदि उपन्यासकारों से वाजपेयी जी की कहीं समता और कहीं भिन्नता पायी जाती है। यशपाल जी की साम्यवादी धारा वाजपेयी जी को प्रिय नहीं है। सामन्तयुगीन प्रेम की वह मदिरा जिसकी मादकता से यशपाल जी का उपन्यासकार प्रभावित है, वाजपेयी जी को नहीं भाती। अज्ञेय जी की प्रेम-परम्परा और नये बनने की कलाबाजी उनकी प्रकृति में नहीं हैं। हाँ, कहीं-कहीं अश्क जी की मान्यताएँ और नागर जी की वस्तु और शैली से वाजपेयी जी की समानता है। विषयवस्तु के सन्दर्भ में प्रतापनारायण जी किसी सीमा तक वाजपेयी जी के पास हैं। चतुरसेन जी ने अपनी कृतियों के लिए वस्तु चयन कई प्रकार का किया है। किन्तु वाजपेयी जी को सभी कुछ इसी समाज के मध्यम वर्ग से मिला है। इसके बाद तो उन्हें गाँव जाना अच्छा लगता है यद्यपि मन वह-लाने के लिए सिनेमा जगत भी पहुँच जाते हैं। वस्तुतः शैली के आधार पर लेखकों की भिन्नता पाठकों के लिए अच्छी है। यही आकर्षण तो हमें उनकी कृतियों की ओर आकर्षित करता है।

वाजपेयी जी ने हिन्दी कथा साहित्य में जितनी ख्याति अर्जित की है वह किसी की दया और कृपा का सुफल नहीं, अपितु उन्हीं के सतत परिश्रम और अवितथ प्रयत्नों का परिणाम है। आयोजित श्रद्धा को वे अपने जीवन में प्रश्रय नहीं देते। मानवता और आत्मविश्वास की जो प्रेरणा उनके उपन्यासों से मिलती है उससे यह प्रतीत होता है कि साहित्य का उद्देश्य मनुष्य है। इस विचारधारा की पुष्टि हमें वाजपेयी जी के साहित्य में सर्वत्र मिलती है। अतिशयता को

वाजपेयी जी महत्त्व नहीं देते। जीवन को निर्मल और सुन्दर बनाने की उनकी चेष्टा प्रत्येक कृति से दिखायी पड़ती है। ज्ञान और चेतना से पंगु मानव को वे जीने की कला बताते हैं। आदमी की शकल में घूमने वाले साँपों के प्रति मानव को वाजपेयी जी ने सजग किया है, और बताया है कि जीवन में एक ऐसा सबेरा अवश्य आता है जिसके प्रकाश से सारा दिन प्रकाशित रहता है। वे यह भी मानते हैं कि मृत्यु के आने पर भी हमारे सामने जीवन का ही आलोक रहेगा।

मनुष्य को भगवान संकटों से उबार लेता है इसका तात्पर्य यह नहीं, कि उसे आलसी और निकम्मा हो जाना चाहिए। अपनी सहायता करने वाले व्यक्ति की सहायता ईश्वर भी करता है। यह वाजपेयी जी की मान्यता है। इन बातों को निष्कर्ष रूप में यहाँ इसलिए दे रहा हूँ जिससे अन्य उपन्यासकारों का वाजपेयी जी के साथ मेल और अन्तर समझा जा सके। वाजपेयी जी के उपन्यासकार में शान्ति का लोभ नहीं पाया जाता। वे योद्धा की भांति जीवन में संघर्ष की प्रेरणा देते हैं। यहीं उनकी गाँधीवादी विचारधारा और उपर्युक्त मन्तव्य में विरोध उत्पन्न हो जाता है। हो सकता है वाजपेयी जी शीतयुद्ध के हामी हों। स्वयं गाँधी जी ने अपने जीवन में संघर्ष करके दिखाया। शक्ति नहीं अपितु महाशक्ति से वे लड़े और एक बहादुर सिपाही की भांति विजयी हुए। वाजपेयी जी भी कुछ इसी प्रकार की बात चाहते हैं। 'यथार्थ से आगे' की हेमा के विचार देखिए :—

> "मुझे ऐसी उन्नति की बिलकुल आकांक्षा नहीं है, जिसमें कहीं से भी आत्मविश्वास के घात-प्रतिघात, हरण किंवा दमन के बीच कहीं से भी संशय भ्रम और विवाद की आशंका हो। मैं अब खतरों से नहीं खेलना चाहती। मैं विकास चाहती हूँ, विकास। मैं ऐसी क्रांति नहीं चाहती, जो मेरी आत्मनिष्ठा के विध्वंस पर खड़ी होकर अपने अपरिमित ऐश्वर्य के हाथों मुझे खरीद लेना चाहती हो। मुझे और अधिक ऐश्वर्य नहीं चाहिए—प्रेम से बढ़कर किसी भी प्रकार के ऐश्वर्य का मेरे लिए कोई मूल्य नहीं है।"
>
> —पृष्ठ, २३३

प्रकट रूप से उपन्यासकार की धारणा उपर्युक्त कथन में दिखायी पड़ती है। मानव का मंगल इसी प्रेम पर आधारित है जो साहित्य का उद्देश्य है। वस्तुतः साहित्य के सागर में अनेक उपन्यासों की नौकाएँ सन्तरण कर रही हैं। कोई लहरों में उलझी है, कोई धारा की गति पर है। कोई डगमगा रही है और कोई किनारे से बहुत दूर है। किसी पर विचारों और समस्याओं की इतनी ग्रंथियाँ लदी हैं कि वह भारी-भरकम होने से ही डरावनी लग रही हैं। वाजपेयी जी के उपन्यासों की नौकाएँ ऐसी हैं जिनकी गति स्वाभाविक है और जिन पर बैठ

कर आप बड़ी सुगमता से वह दृश्य देख सकते हैं, जहाँ यथार्थ की धरती पर आदर्श की हरीतिमा की श्रीसम्पन्नता संत्रस्त मानव की थकान मिटाती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उपन्यास-साहित्य में वाजपेयी जी अपने अनेक साथी लेखकों से आगे निकल गये हैं। वे अपने व्यक्तित्व, प्रयास और कला के कारण युग के महत्त्वपूर्ण और प्रथम श्रेणी के उपन्यासकारों में गिने जाते हैं।

---

## वाजपेयी जी के उपन्यास

| | | |
|---|---|---|
| १. प्रेमपथ | — | १६२६ ई० |
| २. मीठी चुटकी | — | १६२८ ई० |
| ३. अनाथ पत्नी | — | १६२८ ई० |
| ४. मुस्कान | — | १६२६ ई० |
| ५. त्यागमयी | — | १६३२ ई० |
| ६. प्रेम-निर्वाह | — | १६३४ ई० |
| ७. लालिमा | — | १६३४ ई० |
| ८. पतिता की साधना | — | १६३६ ई० |
| ९. पिपासा | — | १६३७ ई० |
| १०. दो बहनें | — | १६४० ई० |
| ११. निमंत्रण | — | १६५० ई० |
| १२. गुप्त धन | — | १६५० ई० |
| १३. चलते-चलते | — | १६५१ ई० |
| १४. पतवार | — | १६५२ ई० |
| १५. धरती की सांस | — | १६५४ ई० |
| १६. मनुष्य और देवता | — | १६५४ ई० |
| १७. भूदान | — | १६५५ ई० |
| १८. यथार्थ से आगे | — | १६५५ ई० |
| १९. निर्यातन | — | १६५५ ई० |
| २०. विश्वास का बल | — | १६५६ ई० |
| २१. सूनी राह | — | १६५६ ई० |
| २२. निरन्तर | — | १६५७ ई० |
| २३. एकदा | — | १६५७ ई० |
| २४. गोमती के तट पर | — | १६५६ ई० |
| २५. रात और प्रभात | — | १६५६ ई० |
| २६. उनसे न कहना | — | १६६० ई० |
| २७. दरार और धुआँ | — | १६६० ई० |

| | | |
|---|---|---|
| २८. सपना बिक गया | — | १९६० ई० |
| २९. एक प्रश्न | — | १९६१ ई० |
| ३०. टूटा टी सेट | — | १९६२ ई० |
| ३१. दूखन लागे नैन | — | १९६२ ई० |
| ३२. चन्दन और पानी | — | १९६२ ई० |
| ३३. टूटते बंधन | — | १९६३ ई० |
| ३४. कपट निद्रा | — | १९६३ ई० |
| ३५. राजपथ | — | १९६४ ई० |
| ३६. अधिकार का प्रश्न | — | १९६५ ई० |
| ३७. स्वप्नों की गोद | — | १९६५ ई० |
| ३८. मुझे मालूम न था | — | १९६६ ई० |
| ३९. एक स्वर आंसू का | — | १९६६ ई० |
| ४०. छोटे साहब | — | १९६६ ई० |
| ४१. विजयश्री | — | १९६६ ई० |

**विशेष** : एक ही कृति के अन्य नाम से प्रकाशित होने का विवरण 'अवतरण' में प्रस्तुत है।

—